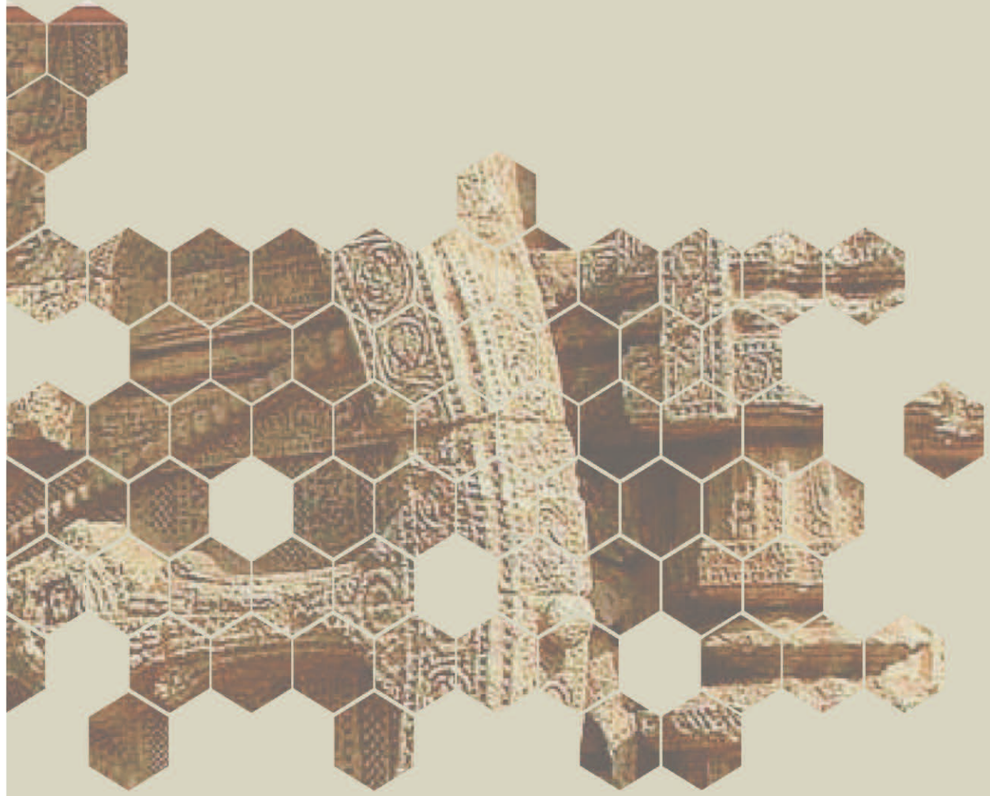

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र -II

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Arts

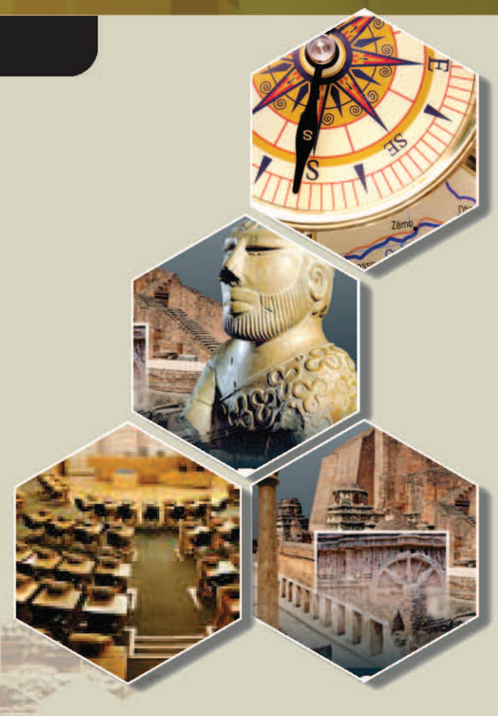

2MAHIN3

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY
Chhattisgarh, Bilaspur
A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

2MAHIN3

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र

2MAHIN3, भारतीय एंव पाश्चात्य काव्य शास्त्र – II

Edition: March 2024

Compiled, reviewed and edited by Subject Expert team of University

1. Dr. Anchal Sriwastawa

(Associate Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Rekha Dubey

(Associate Professor, Dr. C. V. Raman University)

3. Dr. Shahid Husain

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning:

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by:

Dr. C.V. Raman University

Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.),

Ph. +07753-253801, 07753-253872

E-mail: info@cvru.ac.in

Website: www.cvru.ac.in

इकाई-एक

काव्य संबंधी विचार

प्लेटो ने काव्य संबंधी जो विचार व्यक्त किये हैं तथा काव्य तथा अभिव्यक्ति की सत्यता अर्थात् काव्य-सत्य को लक्ष्य करके जो चिंतन व्यक्त किया है, उसे निम्न शीर्षकों में स्पष्ट किया जा सकता है-

1. **काव्य प्रेरणा-** प्लेटो काव्य को अंत:प्रेरणा की देन अथवा स्वत: प्रसूत भावोद्‌गार मानता था। उसकी धारणा थी कि कोई कवि काव्य रचना में गंभीर चिंतन-मनन के उपरांत प्रवृत्त नहीं होता है। उसे उसकी अंत:प्रेरणा ही प्रेरित करती है। यह अंत:प्रेरणा सत्य से विरहित होने के कारण समाजोपयोगी नहीं हो पाती है।

प्लेटो के विचारों पर तत्कालीन वातावरण का भी प्रभाव था। उसकी मान्यता थी कि आदर्श गणतंत्र में कवि के लिए राजनायिकों की प्रशंसा करना अनिवार्य होता है तथा प्रशंसात्मक काव्य सत्य तथा तर्क से दूर होकर समाजोन्मुखी नहीं हो सकता है।

2. **अभिव्यक्ति और सत्य-** प्लेटो व्यक्ति तथा समाज के उत्थान को सत्य की कसौटी मानता था। उसके अनुसार व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को बल प्रदान करने वाला सत्य है। शेष सब कुछ असत्य है। इसी तरह काव्य में जो अभिव्यक्ति होती है वह सर्वथा सत्य नहीं हो सकती, फिर भी प्लेटो का मानना था कि कवि की गंभीर अभिव्यक्ति जब किसी सत्य का उद्‌घाटन करती है और जब कवि कर्म, तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है, तो सत्य की अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक है। लेकिन कवि सत्य अनुकृति का मात्र अनुसरण करता है। इसलिए सत्य की अभिव्यक्ति सदैव नहीं होती है। अत: प्लेटो का कहना है कि दर्शन सत्य की अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसका आधार विवेक, तर्क और पर्यालोचन है, जबकि काव्य भावात्मक मनोवेगों पर आधारित होता है। अत: कविता दर्शन जैसी महत्वपूर्ण न होने के कारण राष्ट्र की दृढ़ता और उन्नति के लिए महत्वहीन है।

3. **आनंद और मनोरंजन का विरोधी-** प्लेटो का मत था कि ऐन्द्रिय आनंद की अपेक्षा बौद्धिक आनंत हितकर होता है। कवि यश तथा कीर्ति चाहता है। इसके लिए वह पाठकों एवं श्रोताओं की वासनाओं को उत्तेजित करता है। अत: कवि आत्मा की तुष्टि के लिए विवेकपूर्वक नहीं लिखता है। वह कोरे आनंद और मनोरंजन का पक्ष लेता है। इस संबंध में उसका कथन द्रष्टव्य है–

"Poetry feeds and waters the passions

instead of drying them up."

अर्थात् काव्य भावनाओं तथा वासनाओं को जाग्रत करता है, उनको सुखाकर समाप्त नहीं करता है। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो काव्यवाद या मनोरंजन को स्वीकार नहीं करता है, और काव्य में आनंद को प्रमुख तत्व नहीं मानता है।

4. **नैतिक मान्यताओं के विपरीत-** प्लेटो काव्य को नैतिक मान्यताओं का विरोधी मानता है। उसका मत है कि काव्य में कभी-कभी सदाचार पर दुराचार की विजय भी दिखाई देती है।

इससे पाठकों पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, इस बात की वे कवि चिंता नहीं करते हैं। अतएव प्लेटो ने नैतिक पक्ष का समर्थन करते हुए उन काव्यों का भी विरोध किया, जिनमें देवताओं और नायकों का अनुचित रूप चित्रित हुआ है। उसकी मान्यता थी कि जब देवता और नायक अत्यधिक अत्याचारी, अनैतिक दिखाये जायेंगे तो सामान्य जनता पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। ऐसा काव्य समाज, राष्ट्र दोनों के लिए घातक है। इस आधार पर उन्होंने काव्य को आदर्श राज्य के लिए भी हानिकारक माना है।

श्रेष्ठ काव्य का गुण

प्लेटो ने एक ओर काव्य की निंदा की है तो दूसरी तरफ श्रेष्ठ काव्य के गुणों का उल्लेख भी किया है। उसने श्रेष्ठ काव्य के निम्नलिखित गुण बतलाए हैं-

1. **सरलता-** सरलता को वह काव्य का प्रमुख गुण मानता था। उसकी धारणा थी कि जो काव्य सरलता से समझ में न आ सके, वह महत्वहीन है। इसी से वह काव्य में व्यंजना की अपेक्षा अभिधा को अधिक श्रेष्ठ स्वीकार करता है, "क्योंकि साधारण-जन व्यंजना का वास्तविक अर्थ न समझकर अर्थ का अनर्थ कर बैठता है।"

सरलता से भी वह न्याय के पालन का पक्षधर था- "Nothing must be tolerated which does not express the sovereign image of justice."

2. **विषय-** वह श्रेष्ठ काव्य के विषय को धार्मिक अथवा नैतिक मानता है। उसमें राष्ट्रनायकों, वीरों, देवताओं के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन अपेक्षित है। उसने साहित्य के दो भेद किये-सद्साहित्य और असद्साहित्य। जिस साहित्य में देव-स्तुति, उदात्त श्रेष्ठ भावों का वर्णन हो वह सद्साहित्य है। उसे सद्साहित्य ही स्वीकार है तथा उसके मत में असद्साहित्य वह है जो काल्पनिक एवं असत्य कथाओं से भरा हो। पर काल्पनिक साहित्य भी किसी श्रेष्ठ 'सत्य' की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो तो वह उसे भी सद्साहित्य की श्रेणी में स्वीकार कर सकता है।

3. **कल्पना का विरोध-** वह दार्शनिक था, उसका संबंध नित्य तर्क से था। कल्पना, फैंटेसी उसे रुचिकर नहीं थी। वह उस साहित्य को कभी उत्तम नहीं मानता था, जिसमें काल्पनिक बिम्बों की सृष्टि द्वारा भाव-पुष्टि तो होती है, पर आत्म-परिष्कार में जो बाधक होता है।

4. **अतिशय भावुकता विरोधी-** भावुकता तथा भावोद्वेलन भ्रांति की सृष्टि करती है, जो उन भावों को मनोवेगों के रूप में विकसित तथा पल्लवित करती है और जिनसे विकार उत्पन्न होते हैं। अत: वह श्रेष्ठ काव्य के ऐसे अंशों का पक्षधर नहीं था। इसी आधार पर उसने होमर की कृतियों में से भी ऐसे अंशों को निकाल देने की बात कही।

5. **शक्ति, ज्ञान और अभ्यास-** प्लेटो ने कवि में तीन गुणों की अपेक्षा की-

(i) ईश्वर प्रदत्त या प्राकृतिक शक्ति। (ii) आवश्यक नियमों का ज्ञान। (iii) अभ्यास।

भारतीय आचार्यों की धारणा से ये तीनों गुण मेल खाते हैं। उनके अनुसार इनके नाम हैं-प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

6. **शिव का समर्थक-** वह काव्य में शिव का समर्थक था। वह उपदेश को महत्व नहीं देता था। उसके अनुसार कला (काव्य) को व्यक्ति स्वभाव की महानता को प्रस्तुत करना चाहिए।

"The right function of art is to put before the soul, the images of what is intrinsically great beautiful."

काव्य भेद

प्लेटो ने काव्य सत्य या अभिव्यक्ति की सत्यता के आधार पर पर काव्य के दो भेद माने हैं- (अ) सद्काव्य (ब) असद्काव्य।

निष्कर्ष

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्लेटो को पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य तथा प्रवर्तक माना जाता है। ऐतिहासिक महत्व के साथ-साथ सैद्धांतिक प्रतिपादन की दृष्टि से भी उसका पर्याप्त महत्व है। काव्य में सत्य की प्रतिष्ठा एवं उसकी तात्विक आलोचना प्लेटो की मौलिकता के प्रमाण हैं। इससे परवर्ती आचार्यों को दिशा-ज्ञान एवं प्रेरणा भी प्राप्त हुई है। प्लेटो ने जो सिद्धांत, मान्यताएं एवं स्थापनाएं निरूपित कीं, वे आज भी विचारणीय हैं। काव्य के श्रेष्ठ गुणों के संबंध में काव्य प्रेरणा तथा काव्य प्रयोजन के विषय में प्लेटो ने विधेयात्मक एवं निषेधात्मक जो कुछ भी कहा है, वह परवर्ती विद्वानों के लिए चर्चा और वाद-विवाद का आधार रहा है तथा उससे पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं समीक्षाशास्त्र में विविधता एवं परिपक्वता का समावेश हुआ है। इस कारण भी प्लेटो को पाश्चात्य कला-चिंतन तथा शास्त्र-समीक्षा परंपरा का प्रधान विद्वान माना जाता है।

अरस्तू के 'अनुकृति सिद्धान्त'

अरस्तु ने काव्य कला के क्षेत्र में दो महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

1. *अनुकृति सिद्धान्त और*
2. *विरेचन सिद्धान्त।*

अरस्तू का कथन है कि काव्य भी चित्रकला की भांति अनुकृति पर आधारित है। जिस प्रकार चित्रकार जीवन को इन तीनों दृष्टियों से प्रस्तुत करता है - एक वह जैसा देखता है उसी रूप में, दूसरे उत्तम रूप में और तीसरे निकृष्ट रूप में उसी प्रकार कवि भी अपनी कृति में जीवन को प्रस्तुत करते समय इन्हीं दृष्टियों को अपनाता है। इस प्रकार अरस्तू का कहना है कि काव्य प्रकृति का एक ऐसा अनुकरण है जिसका माध्यम भाषा है।

अरस्तू का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त अनुकृति या अनुकरण का सिद्धान्त है। अरस्तू अनुकरण को समस्त कलाओं का मूलाधार मानते हैं। अनुकरणात्मक कला को अरस्तू ललित कहते हैं शेष को उपयोगी कला। ललित कला को उन्होने उपयोगी कला से श्रेष्ठ बताया है। इसी प्रकार अरस्तू ने ललित कलाओं में काव्य, संगीत एवं नृत्य को उत्कृष्ट तथा चित्र एवं मूर्ति-कला को निम्न कोटि का बताया है।

प्लेटो ने भी अनुकरण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, परन्तु अरस्तू ने अनुकरण को एक भिन्न सन्दर्भ में प्रस्तुत किया। प्लेटो ने अनुकरण का विषय बाह्य प्रकृति की वस्तुओं को माना, जबकि अरस्तू ने गोचर वस्तुओं में आधारभूत रूप से निहित प्रकृति नियमों को अनुकरण का विषय कहा। प्लेटो का कहना है कि कवि या कलाकार बाह्य जगत की वस्तुओं का अनुकरण (अर्थात् बिम्ब) प्रस्तुत करता है लेकिन अरस्तू का कहना है कि कवि या कलाकार बाह्य जगत की वस्तुओं का नहीं, अपितु प्रकृति की सृजन प्रक्रिया का अनुकरण करता है। इस प्रकार अरस्तू ने अनुकरण को जगत् का स्थूल या गोचर रूप नहीं माना, बल्कि प्रकृति की, विश्व की सर्जनात्मक शक्ति माना है।

अरस्तू के अनुकृति सिद्धान्त को इसके दो ग्रन्थों 'पोइटिक्स' तथा 'पालिटिक्स' के आधार पर समझा जा सकता है। उसका कहना है कि वस्तु का पूर्ण विकसित रूप ही उसका प्रकृत, सामान्य और आदर्श होता है। इसी रूप की उपलब्धि की ओर प्रकृति निरन्तर कार्य करती रहती है, परन्तु कई कारणोंवश अपने इस प्रयत्न में सफल नहीं हो पाती है। कवि या कलाकार उन अवरोधक कारणों को हटाकर प्रकृति के अधूरे कार्य को पूरा करता है। ऐसा करते हुए वह प्रकृति की सृजन प्रक्रिया का अनुकरण करता है। इस प्रकार कवि या कलाकार वस्तु को ऐसा रूप प्रदान करता है जिससे उस वस्तु के आदर्श एवं सार्वभौम रूप का बौध हो। इसी कारण अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण, मात्र अनुकरण न होकर एक सृजन प्रक्रिया है।

अरस्तू ने अनुकरण को पुनः सृजन की क्रिया बताकर कला का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया। अरस्तू के अनुकरण का अर्थ है 'प्रतिकृत या विचार के अनुरूप सृजन, साहित्य में जीवन का कल्पनात्मक पुनः सृजन। इस प्रकार अरस्तू का यह सिद्धान्त भावनामय और कल्पनामय अनुकरण को मानकर चलता है, शुद्ध प्रकृति के अनुकरण को नहीं।' स्कॉट जेम्स ने इसे जीवन के काल्पनिक पुनर्निर्माण का पर्याय माना है - 'Imitation for the poetics, the objective representation of life in literature - What is our language, we might say the imaginative reconstruction of life.' जिस प्रकार अनुकृति के लिए संगीत में सामंजस्य और लय तथा नृत्य में केवल लय का उपयोग होता है, उसी प्रकार काव्य कला में अनुकृति के लिए भाषा का उपयोग किया जाता है। यह भाषा गद्य या पद्य किसी भी रूप में हो सकती है।

काव्य के अनुकरण के विषय में- अरस्तू ने लिखा है कि काव्य में मानवीय क्रिया कलापों का अनुकरण किया जाता है। कामदी काव्य का लक्ष्य होता है मानव के हीनतर रूप को प्रस्तुत करना, जबकि त्रासदी का लक्ष्य है उसके भव्यतर रूप का चित्रण करना।

अनुकृति की विधि - इस सन्दर्भ में यह कथन है कि काव्य के विभिन्न अनुकृत विषय एवं उनके माध्यम में समानता होते हुए भी उनमें अन्तर रहता है। इसका कारण है- उनके मध्य विधि या शैली का अन्तर। अरस्तू ने तीन शैलियों का उल्लेख किया है - 1. कवि वर्ण्य विषय का स्वयं भी वर्णन करता है तथा अपने पात्रों के द्वारा भी कुछ कहलवाता है - जैसे होमर का काव्य, 2. प्रारम्भ से अन्त तक कवि स्वयं कहने की शैली अपनाता है, तथा 3. कवि जहां स्वयं दूर रहकर समस्त पात्रों को नाटकीय शैली में प्रस्तुत करे। इन्हें हम क्रमशः प्रबन्धात्मक शैली, आत्माभिव्यंजनात्मक शैली तथा नाट्य शैली भी कह सकते हैं।

काव्य और अनुकरण - अरस्तू के अनुसार काव्य की सृष्टि और उसके आस्वादन दोनों का मूल कारण अनुकृति ही है। इसके मूल में 'अनुकरण सामंजस्य एवं लय' की वृत्तियों की चर्चा करते हुए अरस्तू ने लिखा है कि मनुष्य अनुकरण से ही सब कुछ सीखता है। काव्य-सृष्टि के साथ-साथ काव्यास्वादन का रहस्य भी मनुष्य की अनुकरण की प्रवृत्ति में ही निहित है। किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आल्हादित होने का कारण यह है कि उससे वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तुओं का अर्थ ग्रहण करता हुआ सोचता है - 'अरे वह व्यक्ति है .....' तब फिर पहले कभी न कभी देखी गई वस्तु को देखकर हमें प्रसन्नता क्यों होती है। इस प्रश्न का उत्तर अरस्तू ने इस प्रकार दिया है कि यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा है तो आपका आनन्द अनुकरण जन्य होगा, वह अंकन, रंगयोजना या किसी अन्य कारण पर आधृर्त होगा।

अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त शब्द मोमेसिस पर विद्वानों ने यह आक्षेप लगाया है कि अरस्तू ने उपयुक्त शब्द का प्रयोग नहीं किया है। मोमेसिस का वह अर्थ नही हो सकता है, जो अरस्तू ने उसमें भरने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में डा. नगेन्द्र का यह कथन महत्वपूर्ण है - 'शब्द को लेकर विवाद करना अधिक सार्थक नहीं होगा - विवेच्य विषय तो अर्थ है। यह सिद्ध है कि अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रत्यंकन मात्र नहीं है - वह पुन: सृजन का पर्याय है और उसमें भाव-तत्व तथा कल्पना तत्व का यथेष्ट अन्तर्भाव है, उसमें सृजना और सृजन के आनन्द की अस्वीकृति कदापि नहीं।'

पाश्चात्य साहित्य में दो प्रकार के नाटकों की रचना हुई-सुखात्मक और दु:खात्मक। अंग्रेजी में सुखात्मक को कॉमेडी और दु:खात्मक को ट्रैजेडी कहा जाता है। हिन्दी में कॉमेडी को कामदी और ट्रेजेडी को त्रासदी कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र आदर्शवाद का समर्थक है। संस्कृत के लगभग सभी नाटक सुखान्त हैं। केवल 'वेणीसंहार' नाटक दु:खान्त है। इसके नायक दुर्योधन का अन्त में वध हो जाता है। किसी भी रचना का दु:खात्मक होना भारतीय आदर्शवाद के विपरीत है। यदि सत्य, न्याय आदि पर आरूढ़ रहने वाले की अन्त में पराजय हो जायेगी अथवा वध हो जायेगा तो इस प्रकार की रचनाओं से समाज में गलत संकेत जायेंगे। लोगों में सन्मार्ग की असफलता देखकर उस पर चलने की प्रवृत्ति समाप्त हो जायेगी। रामायण का प्रतिनायक अथवा खलनायक रावण साधारण व्यक्ति नहीं था। वह भगवान् शिव का परम भक्त था। रावण के समान विद्वान् बहुत कम हुए हैं। उसने असन्मार्ग का अवलम्बन किया, उसने अपनी बहन शूर्पणखाँ के अपमान का बदला राम से युद्धस्थल में न लेकर उनकी पत्नी सीता का धोखे से हरण करके लिया। यदि लंका के युद्ध में रावण विजयी होता तो समाज में इस घटना अथवा इस पर आधारित साहित्यिक रचनाओं के गलत संकेत जाते तथा लोग पर-नारी-हरण से बचने का प्रयत्न नहीं करते। इन्हीं सब कारणों से भारतीय साहित्य में बुराई की पराजय और भलाई की विजय होती है। अत: जो नायक सद्गुओं और सत्कर्मों में संलग्न होता है, अन्त में उसकी विजय अवश्य होती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में नाटकों की गणना काव्य में की गयी है। इस विषय में यह सूक्ति अत्यधिक प्रचलित है-

'काव्येषु नाटकम् रम्यम्।'

(काव्यों में नाटक रमणीय होता है।)

भारतीय काव्यशास्त्र के समान यूनानी काव्यशास्त्र में भी नाटकों की गणना काव्य के अन्तर्गत की जाती है। इस विषय में 'समीक्षालोक' के रचयिता डॉ. भगीरथ दीक्षित का कथन ध्यान देने योग्य है-

"अरिस्टॉटल (अरस्तू) ने कविता को अन्य सभी अनुकरणात्मक कलाओं से उत्कृष्ट माना है और सभी काव्य प्रकारों में ट्रैजेडी (दु:खात्मक) नाटक को उत्कृष्ट कहा है। उसके (अरस्तू के) अनुसार काव्य-कला का उत्कृष्ट विकास इसी काव्य-प्रकार में देखा जा सकता है। उसने ट्रैजेडी के आदर्श रूप की विवेचना में काव्य-संबंधी कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये हैं। भारतीय आचार्यों ने भी 'काव्येषु नाटकम् रम्यम' कहकर यही मत व्यक्त किया है कि नाटक ही काव्य का सर्वाधिक मनोहर रूप होता है। नाटक जीवन का पूर्ण चित्र होता है, यही उसकी उत्कृष्टता और मनोरमता है। जिस प्रकार हमारे यहाँ नाटकों के कई प्रकार हैं, उसी प्रकार यूनानी साहित्य में उसके मुख्यत: दो रूप हैं-ट्रैजेडी और कॉमेडी।"

त्रासदी का लक्ष्य- त्रासदी का अर्थ है-त्रास अर्थात् कष्ट देने वाला। त्रासदी का लक्ष्य त्रास और करुणा के भावों को जाग्रत करना है। त्रासदी का उद्देश्य काव्येतर चित्रण होता है। अरस्तू ने दो भेद त्रासदी और कामदी अथवा ट्रैजेडी अथवा कॉमेडी स्वीकार अवश्य किये हैं, परन्तु उन्होंने कॉमेडी अथवा कामदी का विस्तृत विवेचन नहीं किया है। जहाँ तक ट्रैजेडी अथवा त्रासदी का प्रश्न है, अरस्तू ने उसका विस्तार से विवेचन किया है। अरस्तू ने त्रासदी अथवा टैजेडी के विषय में जो लिखा है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है-

"त्रासदी किसी गम्भीर, स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों (अलंकारों) से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान अर्थात् वर्णन-रूप में न होकर कार्य-व्यापार-रूप में होती है, जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"

माया अग्रवाल ने त्रासदी-संबंधी अरस्तू के इस कथन के आधार पर अपना निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

"वस्तुत: यह त्रासदी की परिभाषा न होकर-साहित्य का वर्णन है। इसमें त्रासदी के अंगों का निरूपण अवश्य हो गया है।"

अरस्तू के इस कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि-

(1) *त्रासदी किसी कार्य की अनुकृति है, व्यक्ति की अनुकृति नहीं।*

(2) *त्रासदी संबंधी कार्य गम्भीर एवं स्वत: कार्य होता है। इसका आधारभूत काल की कथा का निश्चित आयाम होता है।*

(3) *त्रासदी में कार्य अर्थात् जीवन व्यापार का वर्णन नहीं होता, अपितु प्रदर्शन होता है। इसमें जीवन के गम्भीर पक्ष का चित्रण होता है।*

(4) *त्रासदी की शैली अलंकृत होती है।*

(5) *त्रास तथा करुणा की उद्बुद्धि और अर्थात् जागृति और फिर इसका विवेचन त्रासदी का मुख्य उद्देश्य है।*

ट्रैजेडी अथवा त्रासदी की परिभाषा- अरस्तू ने ट्रैजेडी अथवा त्रासदी की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है-

"ट्रैजेडी नाटक एक ऐसे कार्य का अनुकरण है जो महत्त्वपूर्ण अर्थात् महान् और गम्भीर होता है, जो पूर्ण होता है और जिसका एक निश्चित विस्तार होता है। यह अनुकरण ऐसी भाषा में होता है जो कलात्मक अलंकारों के प्रत्येक आकार अर्थात भेद से सुसज्जित होती है। कलात्मक अनुकरणों के ये विविध प्रकार नाटक के विभिन्न अंगों में पाये जाते हैं। इसे अनुकरण क्रिया या नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया जाता है, न कि वर्णनात्मक रूप में और वह अनुकरण दया और भय के भावों को उत्तेजित करके उनका उचित विरेचन अथवा शुद्धिकरण या उपशमन करता है। कलात्मक अलंकारों से सुज्जित भाषा का तात्पर्य उस भाषा से है, जिसमें लय, संगीत और गीत होते हैं। कलात्मक अलंकारों के विविध प्रकार नाटक के विभिन्न अंगों में पाये जाते हैं, इसका आशय यह है कि नाटक के कुछ अंश संगीत रहित पद्यों में और कुछ गीतों में होते हैं।"

ट्रैजेडी की इस परिभाषा में उसके वस्तु तत्त्व, साधन, शैली प्रयोजन पर मत व्यक्त किया है। ट्रैजेडी का विषय है-कार्य का अनुकरण करना। अनुकरण का साधन है-कलात्मक अनुकरणों से

मुक्त भाषा। तात्पर्य यह है कि नाटक के कुछ अंश पद्य में और कुछ गीतों में होने चाहिए। तात्पर्य यह है कि पद्य और संगीत अनुकरण के साधन हैं। ट्रैजेडी की शैली नाटकीय अथवा संवादात्मक होती है, वह वर्णनात्मक नहीं होती। ट्रैजेडी का प्रयोजन है-दया तथा भय को जगाने वाली घटनाओं के प्रस्तुतीकरण द्वारा उन भावों का विरेचन करना।

अरस्तू के अनुसार ट्रैजेडी की व्याख्या- अरस्तू ने ट्रैजेडी को काव्य का एक भेद मानकर उसकी व्याख्या की है। यही कारण है कि उसने ट्रैजेडी के प्रदर्शन के लिए नाटक के अनिवार्य तत्व प्रदर्शन को आवश्यक नहीं माना है। प्लेटो ने प्रदर्शन के बिना भी ट्रैजेडी के प्रभाव को सभी रूप से सम्भव माना है। उसका यह मूत पूर्ण सत्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्रदर्शन नाटक के समग्र प्रभाव को अत्यधिक बढ़ा देता है। रंगमंच पर अभिनीत किये जाने पर सामाजिकी अर्थात् दर्शकों के मस्तिष्क पर नाटक का प्रभाव अपेक्षाकृत रूप में अधिक पड़ता है। इसी आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र में नाटक को 'दृश्य काव्य' नाम दिया गया है। इस प्रकार नाटक को श्रव्य काव्य से भिन्न कर दिया गया है। उसके विपरीत अरस्तू ने ट्रैजेडी को दृश्य काव्य न मानकर 'पाठ्य' माना। इस मान्यता का कारण था कि अरस्तू ने कवि या लेखक की विवेचना कला की दृष्टि से की है। नाटक की रचना में 'प्रदर्शन' कवि कला से बाहर का तत्त्व है। प्रदर्शन का अधिक संबंध प्रयोक्ता के कौशल से है। इतने पर भी यह तो मानना पड़ेगा कि नाटककार को नाटक के प्रदर्शन संबंधी नियमों का पूरा परिचय होना चाहिए। इसे अरस्तू ने भी माना है।

अरस्तू के अनुसार नाटक में प्रमुख तत्त्व घटना-योजना है। घटना-योजना का सामर्थ्य ही कार्य को व्यक्त करता है। नाटककार कथानक किसी भी स्त्रोत से प्राप्त कर सकता है। कौशल उस कथानक की घटनाओं के विन्यास और गुम्फन में प्रकट होता है। कथानक की अपेक्षा घटना-योजना अधिक पूर्ण होनी चाहिए। उन्हें सूक्ष्म दृष्टि से पूर्णता प्रदान करनी चाहिए। घटना विन्यास के माध्यम से ही कार्य की अभिव्यक्ति होती है। कार्य को अन्तिम परिणाम तक ले जाने वाली कारण-कार्य श्रृंखला का नाम ही घटना-योजना है।

नाटक में चरित्र भी महत्त्वपूर्ण होता है, पर इसकी महत्ता इसी में है कि वह घटना विन्यास का कारण बने। इसके अभाव में चरित्र का अधिक महत्त्व नहीं रह जाता है। यह बात भी सन्देह से रहित है कि पश्चिम और पूर्व दोनों के साहित्य में ऐसे चरित्र-प्रधान नाटकों की रचना हुई है, जिनका लक्ष्य केवल मनोवैज्ञानिक स्थिति पर प्रकाश डालना है। उनका लक्ष्य यह नहीं है कि चरित्र घटना-विन्यास में कारण तत्त्व बने। उसका लक्ष्य यह है कि चरित्र के माध्यम से जीवन विषयक एक निश्चित दृष्टिकोण व्यक्त किया जा सके। उसके द्वारा अनुभवों की एक निश्चित प्रक्रिया प्रकट हो।

त्रासदी के तत्त्व- माया अग्रवाल और डॉ. कृष्णदेव शर्मा ने त्रासदी के तत्व को त्रासदी के अंग की संज्ञा दी है। डॉ. भगीरथ दीक्षित ने अपने 'समीक्षालोक' में इन्हें तत्त्व कहा है। माया अग्रवाल ने त्रासदी के निम्न छः अंग माने हैं-

(1) कथानक, (2) चरित्र-चित्रण, (3) पद-रचना, (4) विचार-तत्त्व, (5) दृश्य-विधान, और (6) गीत। इनमें से कथानक, चरित्र-चित्रण और विचार अनुकरण के विषय हैं। दृश्य-विधान अनुकरण की विधि है। पद-रचना तथा गीत अनुकरण के साधन हैं।

डॉ. कृष्णदेव शर्मा ने त्रासदी के इन छः अंगों को स्वीकार करके त्रासदी के निम्नलिखित सात तत्त्वों का उल्लेख किया है-

(1) गाम्भीर्य, (2) स्वतः पूर्णता, (3) निश्चित अभाव, (4) कार्य का वर्णन नहीं, प्रदर्शन, (5) अलंकृत भाषा, (6) त्रासद करुणा को जगाने वाली घटनाएँ, और (7) उद्देश्य रूप में भावों का परिष्कार।

ट्रैजेडी के तत्त्वों के विषय में डॉ. भगीरथ दीक्षित ने लिखा है-

"अपनी परिभाषा की व्याख्या करते हुए अरिस्टॉटल (अरस्तू) ने स्वयं ट्रैजेडी के तत्त्वों का उल्लेख किया है, इसलिए मैं उसी व्याख्या का अनुवाद प्रस्तुत कर देना ही ठीक समझता हूँ।"

ट्रैजेडी में चूँकि किसी कथा का प्रदर्शन किया जाता है, इसलिए सर्वप्रथम यह निष्कर्ष निकला कि प्रदर्शन ट्रैजेडी का एक तत्त्व है। संगीत और पद्य-रचना भी प्रदर्शन के साधन होने के नाते ट्रैजेडी के अंग हैं। कहा जा चुका है कि ट्रैजेडी में किसी कार्य का अनुकरण किया जाता है और कार्य में कर्त्ता का अन्तर्भाव रहता है। कर्त्ता में चरित्र और विचार दोनों में विशिष्ट गुण आवश्यक होते हैं, क्योंकि उन्हीं के द्वारा हम किसी के कार्यों का मूल्यांकन करते हैं। इसलिए स्पष्ट है कि चरित्र और विचार मानवीय कार्य के दो कारण होते हैं। जीवन में सफलता और असफलता के कारण भी वे ही होते हैं। अस्तु चरित्र और विचार ट्रैजेडी के अंग हैं। चरित्र वह तत्त्व है, जिसके आधार पर हम कार्य में कुछ नैतिक गुणों को स्वीकार करते हैं। किसी विशेष दृष्टिकोण पर सिद्धान्त के अवसर पर कर्त्ता के विचार व्यक्त होते हैं।

ट्रैजेडी का कार्य कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। कथा का तात्पर्य कहानी में होने वाली घटनाओं की आलोचना से है। इस प्रकार हमें घटना-योजना, चरित्र, विचार, पद्य-रचना, प्रदर्शन और संगीत-ये छः तत्त्व निहित होते हैं। प्रदर्शन का संबंध शैली से और घटना-योजना, चरित्र तथा विचार-तत्त्व का संबंध ट्रैजेडी की वस्तु या कथावस्तु से है।

जिसे डॉ. भगीरथ दीक्षित ने घटना-योजना कहा है, उसे डॉ. कृष्णदेव शर्मा ने तथा माया अग्रवाल ने कथानक कहा है।

अरस्तू ने घटना-योजना अथवा कथानक के विषय में स्पष्ट किया है कि इन छः तत्त्वों में घटनाओं का अथवा कथानक का सर्वाधिक महत्त्व है। ट्रैजेडी मूलतः व्यक्तियों का नहीं, अपितु कार्य और जीवन का, सुख और दुःख का अनुकरण है। प्रत्येक मानवीय सुख या दुःख कार्य का रूप धारण करता है। जिस उद्देश्य के लिए हम जीवित रहते हैं, वह एक प्रकार की क्रिया ही है, न कि गुण। चरित्र हमें गुण प्रदान करता है किन्तु हमरे सुख और दुःख हमारे कार्यों में हैं। नाटकों में चरित्र-चित्रण के लिए कार्य नहीं होता है, बल्कि कार्य के लिए चरित्र को स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार नाटक का उद्देश्य और अभिप्राय 'कार्य' अर्थात् कथा या घटना-योजना है और यह उद्देश्य ही सर्वत्र मुख्य होता है।

अरस्तू ने चरित्र की अपेक्षा ट्रैजेडी में कथावस्तु अथवा घटना-योजना को श्रेष्ठ एवं अनिवार्य घोषित करते हुए बताया है कि बिना कार्य के ट्रैजेडी असम्भव है, किन्तु बिना चरित्र के वह सम्भव हो सकती है। कोई अपनी कृति में पद्य रचना और विचार की दृष्टि से परम उत्कृष्ट कोटि के वैशिष्ट्यपूर्ण भाषणों की एक श्रृंखला पिरो सकता है, फिर भी उसकी कृति वास्तविक ट्रैजेडी का प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती है, किन्तु इस विषय में निम्न कोटि के होने पर भी यदि किसी कृति में घटना-योजना है तो उसे अधिक सफलता मिल सकती है। ट्रैजेडी के सर्वाधिक शक्तिशाली आकर्षक तत्त्व अर्थात् घटना-विकास और अभिज्ञान घटना-योजना के ही अंग हैं। इस तथ्य का

प्रमाण यह है कि नवीन लेखकों को घटना-योजना की अपेक्षा पद्य-रचना और चरित्र-चित्रण में अधिक शीघ्र सफलता मिलती है। इसलिए हम मानते हैं कि ट्रैजेडी का प्रथम मूल तत्त्व (जीवन और आत्मा) घटना-योजना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अरस्तू ने चरित्र की अपेक्षा कथानक को महत्त्वपूर्ण माना है। वे चरित्र के अभाव में भी त्रासदी की सत्ता स्वीकार करते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने अरस्तू द्वारा कथानक को प्रमुखता देने के निम्नलिखित आठ कारण बताये हैं-

(1) *त्रासदी अनुकृति है, व्यक्ति का नहीं, कार्य की तथा जीवन की।*

(2) *जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है, अत: जीवन की अनुकृति में कार्य-व्यापार का ही प्रामुख्य रहना चाहिए।*

(3) *काव्यगत भाव का स्वरूप है, सुख अथवा दु:ख और यह कार्यों पर निर्भर रहता है, अत: कार्य या घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य हैं।*

(4) *चरित्र कार्य-व्यापार (कथानक) के साथ गौण-रूप से स्वत: ही आता जाता है।*

(5) *बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है।*

(6) *चरित्र-व्यंजक भाषण, विचार अथवा पदावली-चाहे वह कितनी ही परिष्कृत क्यों न हो, वैसा सारभूत कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती, जैसा कि कथानक तथा घटनाओं के कलात्मक गुम्फन से होता है।*

(7) *त्रासदी से सबसे प्रथम रागात्मक तत्त्व, स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान नाम के ही अंग हैं।*

(8) *इसलिए नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हें समय लगता है।*

प्रश्न यह है कि अरस्तू की इस मान्यता का आधार क्या है? इसके कारणों पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि अरस्तू के समय में वस्तु (कथावस्तु) को विशेष महत्त्व दिया जाता था। कथानक उस समय मूल माना जाता था, यद्यपि ऐस्ख्युलम तथा एउरिवेदेश आदि के नाटकों में कथावस्तु के साथ-साथ चरित्र को भी प्रधानता प्राप्त है, फिर भी अरस्तू ने इस युग की स्थिति से प्रभावित होकर कथानक को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

अरस्तू की कथानक संबंधी मान्यता की आलोचना- आलोचक वर्ग अरस्तू की कथानक संबंधी मान्यता से सहमत नहीं है। अरस्तू ने कथानक और चरित्र-चित्रण को परस्पर विरोधी माना है। यह मान्यता उचित नहीं है। अरस्तू का यह कथन भी मान्य नहीं है कि चरित्र-चित्रण के बिना भी ट्रैजेडी अथवा त्रासदी हो सकती है। अरस्तू का यह कथन तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि किसी भी कार्य का कर्त्ता अथवा भोक्ता अवश्य होना चाहिए। त्रासदी की घटनाओं में रागात्मकता-स्वीकार अपेक्षाकृत अधिक उचित है।

कथावस्तु के भेद- अरस्तू ने तीन प्रकार के कथानक का संकेत किया है-(1) दन्त कथा, (2) कल्पनामूलक कथा और (3) इतिहासमूलक कथा। अरस्तू ने कथानक का यह विभाजन विषय के आधार पर किया है। अरस्तू ने इनमें से दन्त कथाओं को महत्त्व प्रदान किया है। वैसे उसने कथानक के शेष दो भेदों की भी उपेक्षा नहीं की है। उसने कथानक के सम्भाव्य तथा आनन्द देने वाले तत्त्वों पर अधिक बल दिया है।

शिल्प की दृष्टि से अरस्तू ने कथावस्तु के दो भेद किये हैं-सरल और जटिल। अरस्तू ने सरलता और जटिलता को निर्णायक कार्य को माना है। उसका कथन है कि कार्य के सरल होने पर कथावस्तु सरल होगी और कार्य के जटिल होने पर कथावस्तु जटिल होगी। कथानक की सरलता का अर्थ है-कार्य-व्यापार की अविच्छिन्नता। इसका कार्य एक ही होता है। यह चरण घटना की ओर सीधा और अकेला आगे बढ़ता है। जटिल कथावस्तु वाली त्रासदी में कथावस्तु का विकास सीधा नहीं होता, उसमें अनेक मोड़ और अनेक प्रासंगिक कथाएँ होती हैं।

कथावस्तु के गुण- अरस्तू ने कथावस्तु के निम्नलिखित गुण स्वीकार किये हैं-

(1) **एकान्विति-** एकान्विति का अर्थ यह नहीं है कि उसमें एक ही व्यक्ति की कथा हो। एक व्यक्ति की कथा में भी एकान्विति का अभाव हो सकता है। कथावस्तु के ऐक्य का अर्थ है-कार्य का ऐक्य। ऐसे कथानक को कार्य-व्यापार की धुरी बनाना चाहिए जो सही अर्थ में एक हो। इसका अभिप्राय यह है कि कार्यवस्तु की संघटना ऐसी होनी चाहिए कि यदि उसके एक अंग को भी अपने स्थान से इधर-उधर किया जाये तो उसका सर्वांग छिन्न-भिन्न अर्थात् अस्त-व्यस्त हो जाये। एकान्विति के संबंध में कहना होगा कि उसमें एक ही कार्य होना चाहिए तथा वह भी पूर्णरूप से वर्तमान होना चाहिए। प्रत्येक घटना उससे सम्बद्ध हो तथा उन घटनाओं को इधर-उधर न किया जा सके। घटनाओं का आपस में अनुस्यूत होना भी आवश्यक है।

(2) **पूर्णता-** कथावस्तु का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है-पूर्णता। पूर्णता के लिए अरस्तू ने निम्नलिखित चार बातों का होना आवश्यक माना है-

(क) *पूर्ण वह है, जिसमें आदि, मध्य और अन्त हो।*

(ख) *आदि वह है जो किसी हेतु का परिणाम नहीं होता, पर जिसके पश्चात् स्वभावतः कुछ विद्यमान रहता है, घटित होता है। इसमें प्रेक्षक का जिज्ञासा-विषयक पूर्व-इतिहास नहीं होना चाहिए।*

(ग) *मध्य वह है जो स्वयं किसी घटना का अनुगमन करता है तथा कोई अन्य घटना उसका अनुगमन नहीं करती। तात्पर्य यह है कि मध्यवर्ती के पूर्ववर्ती कारण हो तथा परवर्ती कार्य-कारण का संबध भी हो।*

(घ) *अवसान या अन्त उसे कहते हैं जो स्वयं अनिवार्यतः अथवा नियमतः किसी अन्य घटना का सहज अनुवर्ती हो, पर जिसका अपना अनुवर्ती कुछ भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि त्रासदी का अन्त अर्थात् अवसान का तो परिणाम होना चाहिए, परन्तु वह अवसान किसी अन्य स्थिति का जनक नहीं हो।*

इस प्रकार अरस्तू के वस्तुपरक दृष्टिकोण से पूर्णता का अर्थ यही प्रतीत होता है। भावपरक दृष्टि से पूर्णता का तात्पर्य प्रेक्षक की जिज्ञासा की शान्ति से है। पूर्णता का गुण है, जिसमें जिज्ञासा की क्रमिक व्यवस्था अनिवार्य रूप से हो।

(3) **सम्भाव्यता-** कथानक में ऐसे प्रसंग होने चाहिए जो सम्भाव्यता अथवा आवश्यकता के नियम के अधीन हों। तात्पर्य यह है कि कथानक के प्रसंग असम्भव प्रतीत न हों। जो घटित हो चुका है, वह भी पर्याप्त नहीं है, जो घटित हो सकता है, वह भी कवि का कर्म होना चाहिए। कथानक में असम्भव घटनाओं का समावेश नहीं होना चाहिए। असम्भव घटनाएँ प्रेक्षक को ग्राह्य नहीं होतीं। कथानक अतिमानवीयता एवं आकस्मिकता से भी हीन होना चाहिए।

(4) **सहज विकास-** कथावस्तु के अंगों का विकास सहज रूप से होना चाहिए। घटनाएँ आपस में संबंधित और एक-दूसरे का परिणाम होनी चाहिए। घटनाओं का विकास नाटकीय एवं कौतूहलवर्धक होना चाहिए। कथानक की यान्त्रिक अवतारणा तथा उसमें बाह्य साधनों का प्रयोग प्रशंसनीय नहीं होता।

(5) **कौतूहल-** सफल कथावस्तु की विशेषता होती है-प्रेक्षक की कौतूहल-वृत्ति का सन्तोष करने की क्षमता। अरस्तू का कथन है कि घटनाएँ हमारे सामने अचानक ही उपस्थित होनी चाहिए। यह प्रभाव उस दशा में अधिक गहरा हो जाता है, जब इसके साथ उनमें कार्य-कारण की पूर्वापरता भी हो। कौतूहल का आधार आकस्मिकता है। घटनाओं की यान्त्रिकता कथानक की रोचकता को नष्ट कर देती है। जहाँ पूर्ववर्ती घटनाओं से परवर्ती घटनाओं का अनुमान करना सरल हो, वहाँ पर जिज्ञासा न तो जाग्रत होती है और न उसकी सन्तुष्टि के लिए स्थान रह जाता है। इसलिए घटनाओं में आकस्मिकता होनी चाहिए, जिससे प्रेक्षक की जिज्ञासा जाग्रत रह सके और उसका कौतूहल बना रहे।

(6) **साधारणीकरण-** कथावस्तु की व्यावहारिकता को दृष्टिगत रखते हुए अरस्तू ने उसकी सार्वभौमिक स्थिति एवं सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य रूपरेखा के प्रति आग्रह प्रदर्शित किया है। सर्वग्राह्य एवं देशकाल के बन्धनों से मुक्त कथावस्तु के साथ ही प्रेक्षक का तादात्म्य हो सकेगा। ऐसी रूपरेखा के बाद ही उसमें नाम-रूपधारी व्यक्तियों का समावेश करना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अरस्तू द्वारा त्रासदी का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है।

अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त

अरस्तू का कला सम्बन्धी दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'Catharsis' है, जिसका हिन्दी अनुवाद रेचन, विरेचन एवं परिष्करण शब्दों द्वारा किया गया है। इनमें 'विरेचन' शब्द सर्वाधिक प्रचलित है। 'विरेचन' शब्द भारतीय आयुर्वेदशास्त्र का है और इसका अभिप्राय रेचक औषधियों द्वारा शरीर के मल या अनावश्यक या अस्वास्थ्यकर पदार्थ को निकालना है। अरस्तू ने भी 'Catharsis' शब्द यूनान के चिकित्साशास्त्र से लिया है। वहां भी इसका प्रयोग 'निष्कासन' के अर्थ में होता है। अरस्तू ने चिकित्साशास्त्र के इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में लाक्षणिक अर्थ में किया।

अरस्तू ने Catharsis शब्द का प्रयोग अपने Poetics तथा Politics नामक ग्रन्थों में किया है। प्रथम में उसने त्रासदी का कार्य बताने के लिए इसका प्रयोग किया है - 'त्रासदी करुणा और त्रास भावनाओं का निष्कासन करती है तथा त्रासदी के पाठन एवं प्रेक्षण से संयत रूप में करुणा एवं भय का जो संचार होता है, उससे व्यवहारिक जीवन में करुणा एवं भय के प्रचण्ड आवेगों को झेलने की शक्ति आती है'। Politics नामक ग्रन्थ में अरस्तू ने इस शब्द का प्रयोग 'शुद्धि' के अर्थ में संगीत के सन्दर्भ में किया है। यथा - संगीत का अध्ययन एक नहीं, वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए - 1. शिक्षा के लिए, 2. विरेचन (शुद्धि के लिए) तथा 3. बौद्धिक आनन्द की उपलब्धि के लिए।

अरस्तू के पूर्व भी यह शब्द यूनान में प्रचलित था, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में इसको लागू करने का श्रेय अरस्तू को ही है। प्लेटो ने कला और काव्य पर आक्षेप लगाते हुए कहा था कि 'इनसे

हमारी दूषित वासनाएं और मनोवृत्तियां उत्तेजित एवं पुष्ट होती हैं।' सम्भवत: इसी मत का खण्डन करने के लिए अरस्तू ने यह प्रतिपादित किया कि 'कला गैर साहित्य से हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप में विरेचन हो जाता है - अत: वे समाज के लिए हानिकारक नहीं हैं।' संगीत के सन्दर्भ में रागों की चर्चा के अन्तर्गत अरस्तू ने लिखा है कि, 'किन्तु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से - ऐसे रागों के प्रभाव से जो कि रहस्यात्मक आवेश को उद्‌बुद्ध करते हैं, वे शान्त हो जाते हैं, मानो उसके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति, प्रत्येक भावुक व्यक्ति, इस प्रकार का अनुभव करता है और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदनशक्ति के अनुसार, प्राय: सभी इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं। उनकी आत्मा विशद् और प्रसन्न हो जाती है, इस प्रकार विरेचक राग मानव समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं। '

अरस्तू के परवर्ती विद्वानों ने विरेचन सिद्धान्त की विभिन्न प्रकार से व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, जिन्हें हम सामान्यत: तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं - 1. धर्मपरक 2. नीतिपरक तथा 3. कलापरक

प्रो. मरे एवं लिवी आदि का कहना है कि अरस्तू ने Catharsis का लाक्षणिक प्रयोग धर्म की दृष्टि से किया था और वह यह कहना चाहता था कि - बाह्य उत्तेजना तथा अन्त में इसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि। कुछ जर्मन विद्वानो नें विरेचन सिद्धान्त की नीतिपरक व्याख्या करते हुए लिखा कि विरेचन का अभिप्राय है मनोविकारों के उत्तेजन के पश्चात् उद्वेग का शमन और तद्‌जन्य मानसिक विशदता। इस वर्ग के विद्वानों के मतानुसार जब मूलत: दुखी प्रतीत होने वाले करुणा एवं त्रास नामक मनोवेग ट्रेजेडी के अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, तब दर्शक के मन में पहले तो त्रास और करुणा के भाव अपार वेग से उद्वेलित होते हैं, पर शीघ्र ही वे उपशमित हो जाते हैं। इस प्रकार दर्शक ट्रेजेडी देखकर मानसिक शान्ति का सुखद अनुभव करता है और उसके मन में करुणा एवं त्रास आदि मनोवेगों का भय नहीं रह जाता है।

जर्मन कवि गेटे और अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों में विरेचन सिद्धान्त के कलापरक अर्थ के विशेष संकेत मिलते हैं परन्तु सर्वाधिक आग्रह के साथ प्रबल प्रतिपादक करने वाले हैं प्रो. बूचर। उनका कहना है कि 'ट्रेजेडी का कर्तव्य-कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, किन्तु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है, इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।' इस प्रकार प्रो. बूचर के अनुसार विरेचन का अर्थ है - पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार।

मूल्यांकन

विचारकों ने अरस्तू के उक्त सिद्धान्त पर आपत्तियां भी की हैं। धर्मपरक व्याख्या के प्रति जर्मनी और इटली के विद्वानों ने यह कहकर आपत्ति की कि ट्रेजेडी के निरन्तर पवन, प्रेक्षण आदि से मन कठोर हो जाता है, जिस प्रकार शमशान में रहने वाला व्यक्ति शवों को देखकर विचलित नहीं होता है। इसी प्रकार कतिपय विद्वानों ने कलापरक व्याख्या पर भी आपत्तियां की हैं। कुछ विद्वानों ने तो विरेचन सिद्धान्त को आधारहीन ही बता दिया है। इस सन्दर्भ में केवल इतना कहा जा सकता है कि विरेचन सिद्धान्त काव्यशास्त्र को अरस्तू की एक महत्वपूर्ण देन है और वह काव्यशास्त्र की एक महत्वपूर्ण मान्यता के रूप में स्वीकृत है।

कुछ सिद्धान्त अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद में समानता स्थापित करते हैं। लेकिन विरेचन और अभिव्यक्ति शब्द भिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त किये गये हैं - उनको समानार्थी बताने से कोई महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त नहीं होता है। सामान्य अन्तर स्पष्ट है। अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त करुणा एवं त्रास भाव की दृष्टि से प्रतिपादित है। अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' समस्त भावों को लेकर चलता है।

लोंजाइनस के उदात्त तत्व की व्याख्या

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा में लोंजाइनस का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् इन्हें ही प्रभावशाली तीसरा समीक्षक माना जाता है। इनकी 'पेरिइप्युस' नामक एक रचना उपलब्ध है, जिसको अंग्रेजी में 'On the Sublime' नाम दिया गया है। हिन्दी में इसका अर्थ किया गया औदात्य, ऊंचाई, उदात्त तत्व। काफी समय तक यह रचना अज्ञात रही परन्तु सर्वप्रथम 1554 ई. में इसका पता लगा और तब 1652 ई. में इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया गया। इसके उपरान्त इसकी पर्याप्त प्रसिद्धि हो गयी। लोंजाइनस के विषय में विद्वानों में अत्याधिक मतभेद हैं। कुछ इन्हें सामान्य कोटि का मानते हैं तो कुछ महान साहित्यकार और कुछ महारानी जेबोनिया का मंत्री स्वीकार करते हैं। जो भी कुछ हो इतना निश्चित है कि लोंजाइनस की देन महान् है। उनकी रचना 'पेरि इप्युस' अत्याधिक प्रभावशाली कृति है, जिससे उनकी महानता और उदात्त चरित्र का स्पष्ट ज्ञान होता है।

पेरि इप्युस का प्रतिपाघ

इस रचना का दो तिहाई भाग प्राप्त हो सका, फिर भी इससे लोंजाइनस के विचारों का भली-भांति अंकन किया जा सकता है। डा. नागेन्द्र ने इस रचना के प्रतिपाघ की ओर स्पष्ट संकेत किया है "इसमें उदात्त कला की प्रेरक भावनाओं और धारणाओं का विश्लेषण नहीं, वरन् उदात्त शैली के आधार-तत्वों का विवेचन प्रधान है।" वास्तव में इसमें उदात्त शैली के आधार तत्वों पर ही विशेष बल दिया गया है।

लोंजाइनस ने उदात्त तत्व से परिपूर्ण रचना को ही श्रेष्ठ माना। इनका विचार था कि काव्य या साहित्य का चरम लक्ष्य परमोल्लास प्रदान करना है, तर्क के द्वारा बात को मानने के लिए बाध्य करना नहीं, वरन् पाठक अथवा श्रोता को 'स्व' से ऊपर उठाना है।

उदात्त का अर्थ स्वरूप

उदात्त का शाब्दिक अर्थ है, उच्च महान् उत्कृष्ट, श्रेष्ठ आदि। हिन्दी शब्दार्थ-पारिजात में उदात्त का अर्थ बताया है - त्वरित, दया, त्याग आदि गुण सम्पन्न मनोहर, महान, दाता श्रेष्ठ योग्य। वी.एस. आप्टे के संस्कृत, इंगलिश कोष में उदात्त के निम्नलिखित अर्थ माने गए हैं - High, Elevated, Lofty, Exalted, Noble, Sublime, Dignified, इन सभी अर्थों से स्पष्ट होता है कि उदात्त का प्रयोग उच्च, उत्कृष्ट आदि के लिए किया जाता है।

लोंजाइनस ने कहीं भी उदात्त का अर्थ स्पष्ट नहीं किया और न ही उसकी परिभाषा दी, वरन उन्होंने साहित्य के सब गुणों में इसे श्रेष्ठ माना। उन्होंने लिखा - "उदात्त तो साहित्य के सब गुणों में महान् है।" यह वह गुण है, जो अन्य क्षुद्र त्रुटियों के बावजूद साहित्य को सच्चे अर्थों में प्रभावपूर्ण बना देता है। इतना ही नहीं, लोंजाइनस का मत है कि इसी गुण के आधार पर साहित्यकार

ख्याति प्राप्त करता है। उन्होंने लिखा है - "वह वाणी का ऐसा वैशिष्ट्य और चरमोत्कर्ष है जिससे महान् कवियों और इतिहासकारों को जीवन में प्रतिष्ठा और अमर यश मिलता है।" इनका विचार है कि श्रोता अथवा पाठक को अत्यधिक आनन्द प्रदान करने वाला यही तत्व है। उन्होंने बताया कि काव्यानन्द प्रदान करने वाला तत्व रचना - नैपुण्य से भिन्न, अधिक सूक्ष्म और गहरा है। इस तत्व को ही इन्होंने उदात्त की संज्ञा दी। इन्होंने कला मात्र को उदात्त माना और कहा कि वही कला श्रेष्ठ है, जिसमें हृदय को स्पर्श करने की अद्‌भुत शक्ति है। उदात्त को काव्य की आत्मा मानते हुए इन्होंने स्पष्ट किया कि "काव्य का मूल्यांकन पाठक या श्रोता के मानस पर पड़े उसके प्रभाव के आधार पर ही होना चाहिए। यदि किसी काव्य में पाठक या श्रोता को अपने प्रवाह में बहा ले जाने की, उसे इस संसार के ऊपर उठाकर समाधि या तन्मयावस्था में पहुँचा देने की शक्ति है, तो वह काव्य उत्कृष्ट कोटि का है और ऐसा उदात्तता के समावेश से ही किया जा सकता है अर्थात उदात्तता काव्य की आत्मा है।"

उदात्त काव्य सृजन के सम्बन्ध में लोंजाइनस का मत है कि उदात्त चरित्र और हृदयवाले व्यक्ति ही ऐसे काव्य की रचना कर सकते हैं क्योंकि उदात्तता आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है। अत: इन्होंने लिखा है - सच्ची उदात्तता केवल उन्हीं में होती है, जिनकी चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुख है। जिनका सारा जीवन तुच्छ एवं संकीर्ण विचारों का अनुसरण करने में व्यतीत होता है, ऐसे व्यक्ति सम्भवत: मानवता के लिए स्थायी महत्व की रचना करने में कभी भी सफल नहीं होते। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाओं में परिपूर्ण हैं, उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द झंकृत हो सकते हैं। औदात्य के स्वरूप के संबंध में लोंजाइनस के विचार चार रूपों में दृष्टिगत होते हैं–

(1) औदात्य अभिव्यक्ति की उच्चता और उत्कृष्टता का नाम है।

(2) यह अभिव्यक्ति की उच्चता (उदात्तता) श्रोता के तर्क का समाधान नहीं करती, वरन् उसे पूर्णतया अभिभूत कर लेती है।

(3) किसी वस्तु पर विश्वास करें या नहीं, यह अपने वश में है, पर औदात्य अपनी प्रबल एवं दुर्निवार शक्ति के कारण प्रत्येक पाठक को अनायास ही वहाँ ले जाता है।

(4) किसी भी सर्जना के शिल्प, उसकी सुस्पष्ट व्याख्या और तथ्यों के प्रस्तुतीकरण के गुणों का ज्ञान उसके एक या दो अंशों से नहीं, अपितु सम्पूर्ण रचना के शिल्प विधान से धीरे-धीरे चलता है, जबकि उदात्त विचार यदि अवसर के अनुकूल हों तो एकाएक बिजली की भाँति चमक कर समूची विषय-वस्तु को प्रकाशित कर देता है तथा वक्ता के समस्त वाग्यवैभव को एक क्षण से ही प्रकट कर देता है।

उदात्तता के मूलाधार पाँच तत्व

लोंजाइनस ने उदात्तता के मूलाधार पाँच तत्व माने हैं– (1) उदात्त विचार (2) भावों का उदात्त रूप में चित्रण (3) समुचित अलंकार योजना (4) उत्कृष्ट भाषा (5) गरिमामय रचना विधान।

1. **उदात्त विचार–** उदात्त विचार से तात्पर्य है– उत्कृष्ट, उच्च विचार। लोंजाइनस का मत है कि काव्य के उत्तम विचारों की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। उदात्त विचार उसी साहित्यकार के होंगे, जिसका चरित्र महान् होगा। जिसके अपने विचार महान् होंगे, जिसका हृदय विशाल होगा, जो श्रेष्ठ आत्मा वाला होगा। यह "उदात्त वाणी सदात्मा व्यक्तियों को सहज ही प्राप्त होती है। औदात्य महान्

आत्मा की सच्ची प्रति ध्वनि होती है।" इन धारणाओं से ही लोंजाइनस ने उदात्त विचार को काव्य का सर्वप्रमुख गुण माना और नैसर्गिक प्रतिभा का पर्याप्य स्वीकार किया।

2. **भावों की उत्कटता–** भावों की उत्कटता का अभिप्राय ऐसे आवेश से है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मा का उत्कर्ष होता है तथा आत्मा हर्ष उल्लास से परिपूर्ण होकर उच्चाकाश में विचरण करने लगती है। लोंजाइनस की मान्यता है– भव्यता के लिए उचित प्रसंग में सच्चे भाव से बढ़कर साधन और कुछ नहीं होता। वह शब्दों को एक मनोरम उन्माद से अनुप्रमाणित कर देता है और उन्हें दिव्य आवेश से भर देता है। इन्होंने औदत्य और संवेग में कोई अन्तर नहीं माना। आवेश अथवा संवेग के भव्य और निम्न दो भेद करते हुए लोंजाइनस ने दया, शोक, भय से सम्बन्धित संवेगों को निम्न कोटि का माना तथा आत्मा का उत्कर्ष करने वाले संवेगों को भव्य। एक स्थान पर उन्होंने संवेग को 'आत्मा का प्रखर विक्षोभ' कहा और उदात्त के लिए संवेगों का प्रबल होना स्वीकार किया। इस प्रकार इन्होंने महान और पुष्ट विचारों के साथ - साथ प्रबल भावावेग को ही महत्व दिया।

3. **समुचित अलंकार योजना–** औदात्य की सिद्धि के लिए लोंजाइनस ने समुचित अलंकार योजना पर बल दिया। यद्यपि इससे पूर्व भी काव्य में अलंकारों का प्रयोग किया जाता था। लोंजाइनस ने अलंकारों का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक से जोड़ते हुए स्पष्ट किया कि "अलंकार सर्वाधिक प्रभावशाली तब होता है, जब इस बात पर ध्यान ही न जाये कि वह अलंकार है।" इनका विचार था कि अलंकारों का प्रयोग केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिये नहीं वरन् पाठक को आनन्द प्रदान करने के लिए और अर्थ को प्रभावशाली बनाने के लिए होना चाहिए। साथ ही अलंकारों का प्रयोग स्थल, विषय, परिस्थिति, उद्देश्य एवं प्रसंगानुकूल होना चाहिए। इन सबसे स्पष्ट है कि लोंजाइनस ने अलंकारों के स्वभाविक प्रयोग पर बल दिया है।

4. **उत्कृष्ट भाषा–** उत्कृष्ट भाषा से अभिप्राय है अभिजात पद रचना। तात्पर्य है कि भाषा का सरल, स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण प्रयोग होना चाहिये। प्रसंगानुसार भाषा सरल, सुबोध और गरिमापूर्ण होनी चाहिए। सर्वत्र गरिमामय, परिष्कृत और प्रौढ़ भाषा का प्रयोग इनकी दृष्टि में उचित नहीं है। इसलिए इन्होंने लिखा है– "गरिमामयी भाषा प्रत्येक अवसर के अनुकूल नहीं, क्योंकि छोटी-छोटी बातों को भारी भरकम संज्ञा देना, किसी छोटे से बालक के मुख पर पूरे आकार वाला मुखौटा लगा देने के समान है।" इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए इन्होंने एक अन्य स्थान पर लिखा "ग्राम्य उक्ति कभी-कभी सुरुचिपूर्ण भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली होती है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि लोंजाइनस ने काव्य में औदात्य के प्रसंगानुसार सरल, स्वाभाविक परिष्कृत, ओजगुण युक्त और गरिमामयी भाषा (पदावली) के प्रयोग पर बल दिया है।

5. **गरिमामयी रचना विधान -** गरिमामयी रचना विधान का तात्पर्य शब्दों, विचारों और कार्यों आदि के समुचित प्रयोग अथवा समन्वय से है। इस संबंध में अपना मत स्पष्ट करते हुए लोंजाइनस ने लिखा– "मेरा आशय एक विशिष्ट क्रम में शब्दों की योजना से है।" शैलीगत रचना-विधान की तुलना उन्होंने शरीर रचना से करते हुए स्पष्ट किया कि– "जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयवों के अलग-अलग रहने पर कोई महत्व नहीं सब मिलकर ही वे एक समग्र और सम्पूर्ण शरीर की रचना करते हैं। इसी प्रकार उदात्त शैली के सभी तत्व जब एकान्वित कर दिए जाते, हैं तभी उनके कारण कृति गरिमामयी बन पाती है।"

कुछ विद्वानों ने इन तत्वों का विभाजन तीन रूपों में इस प्रकार किया– (1) अन्तर्गत तत्व, (2) बहिरंग तत्व, (3) विरोधी तत्व।

1. **अन्तर्गत तत्व**– इसके अन्तर्गत उदात्त विचार तथा भावों के उदात्त रूप अथवा संवेग को माना गया।

2. **बहिरंग तत्व**– इसके अंतर्गत समुचित अलंकार योजना, उत्कृष्ट भाषा तथा गरिमामयी रचना विधान की गणना की गई।

3. **विरोधी तत्व**– लोंजाइनस ने औदात्य के बाधक तत्वों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनका विचार है कि आडम्बरपूर्ण शैली, भावाडम्बर, शब्दाडम्बर, अनुचित विचार, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, कर्ण कटुभाषा, असंयत वाक्विस्तार, अत्यन्त संक्षिप्तता, अनावश्यक साज-सज्जा, संगीत और लय का आधिक्य औदात्य के लिए बाधक है। अत: ये त्याज्य है। अनुपयुक्त भावावेश को भी इन्होंने हेय समझा और चमत्कारपूर्ण प्रयोगों को औदात्य के लिए हानिकारक माना। अत: इनके मतानुसार रचना का प्रभाव नष्ट करने वाले सभी तथ्य त्याज्य हैं।

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि लोंजाइनस का यह काव्य कला सम्बन्धी विवेचन पूर्ण रूपेण मौलिक है। उन्होंने प्लेटो और अरस्तू के सिद्धातों को पूर्णता प्रदान की। श्री राजनाथ शर्मा ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है– लोंजाइनस ने अपने मौलिक विवेचन द्वारा प्लेटो और अरस्तू के अपूर्ण काव्य सिद्धातों को पूर्णता प्रदान कर, युगों से साहित्य के सम्बन्ध में चली आ रही बद्धमूल धारणाओं का परिष्कार और उन्नयन कर समीक्षा के क्षेत्र में एक क्रांति-सी उत्पन्न कर दी थी। उसकी नवीन और मौलिक देन यह थी कि उसने काव्य की भावात्मक उत्तेजना प्रदान करने की क्षमता को अनिवार्य माना था, क्योंकि काव्य की सम्पूर्ण मोहकता इसी भावोत्तेजना पर सर्वाधिक निर्भर करती है। लोंजाइनस ने औदात्य हेतु विषय-वस्तु और भाषा-शैली के समन्वय पर बल दिया। इन्होंने ही सर्वप्रथम वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों दृष्टिकोणों से काव्य का मूल्यांकन करने का सुझाव दिया। लोंजाइनस का उदात्त तत्व पाश्चात्य साहित्य की एक विशेष उपलब्धि है। जैसा कि इन्होंने स्वत: स्पष्ट किया है– 'यह एक ऐसा अनुभव है जो स्वभावत: हमें ऊपर उठाता है। इस गर्वोन्नत मन: स्थिति से हम आनन्दपूर्ण अहंकार का अनुभव करते हैं। यह अनुभव उन्नयनकारी होने के कारण सर्वथा नैतिक तथा साथ ही प्रभाव से सदा श्रेष्ठ है, जो केवल तर्क संगत और मनोरंजक है। क्योंकि यह तर्क युक्त क्रम से हमें प्रभावित ही नहीं करता बल्कि विस्मय का उद्रेक भी करता है। अत: निरपवाद रूप से हमें मन्त्र मुग्ध कर लेता है।

इकाई-दो

ड्राइडन के काव्य सिद्धान्तों का विवेचन

ड्राइडन की गणना अंग्रेजी समीक्षकों में की जाती है। इनकी पहली रचना 'एस्से ऑन ड्रामेटिक पोइट्री' सन् 1668 ई. में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक संवाद के रूप में है, इसमें प्राचीन और नवीन, फ्रेंच और एलिजाबेथयुगीन नाटक साहित्य की विवेचना की गयी है। नाटक की चर्चा में ही ड्राइडन ने काव्य की सामान्य प्रकृति, कार्य एवं मूल्य पर अपने महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। अंग्रेजी समीक्षकों में ड्राइडन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश विद्वान् ड्राइडन को अंग्रेजी

समीक्षा का जनक स्वीकार करते हैं। ड्राइडन को अंग्रेजी साहित्य में पहला व्यावहारिक समीक्षक माना जाता है।

ड्राइडन के काव्य की परिभाषा- ड्राइडन के मतानुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है-

"काव्य मानव प्रकृति की यथार्थ और सप्राण मानसिकता है जो मानव जाति को आनन्द और शिक्षा प्रदान करने के निमित्त मानव प्रकृति के भावों, मनःस्थितियों तथा भाग्य-परिवर्तनों को प्रस्तुत करता है।"

इस परिभाषा में निम्नलिखित पाँच बातें कही गयी हैं-

(1) काव्य का संबंध मानव प्रकृति से है।

(2) काव्य मानव प्रकृति का मानस चित्र है।

(3) यह चित्र यथार्थ होना चाहिए।

(4) इसमें सप्राणता होनी चाहिए।

(5) काव्य का लक्ष्य आनन्द और शिक्षा प्रदान करना है।

काव्य की परिभाषा में जो भी बातें बतायी गयी हैं, वे सभी काव्य के लिए आवश्यक हैं। कवि अपनी काव्य-रचना के हेतु इसी जगत् से सामग्री प्राप्त करता है। कवि अपने काव्य का विषय मानव प्रकृति को बनाता है। कवि मानव-प्रकृति का वर्णन न करके उसका चित्र प्रस्तुत करता है। मानव प्रकृति का प्रत्येक चित्र काव्य नहीं हो सकता है। प्रकृति के चित्र को काव्यात्मक होने के लिए यथार्थ के साथ-साथ सप्राण भी होना अनिवार्य है। मानव प्रकृति का यथार्थ चित्र तो मनोवैज्ञानिक भी प्रस्तुत कर सकता है। वह चित्र सप्राण न होने के कारण काव्य नहीं कहा जा सकता।

काव्य मानव-प्रकृति का चित्र- प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने दृष्टिगोचर होने वाले इस संसार को सत्य का अनुकरण स्वीकार किया है। प्लेटो ने न इसका महत्त्व स्वीकार किया है और न इसका कोई मूल्य निर्धारित किया है। प्लेटो ने काव्य को अनुकरण अथवा छाया की छाया मानकर अकथ्य घोषित किया है। संसार का ज्यों का त्यों वर्णन करना प्लेटो के मत में छाया का अनुकरण मात्र है। इसके विपरीत प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने बताया कि कवि अपने कौशल से आवश्यकता तथा योग्यता के आधार पर वास्तविक अथवा ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा व्यापक सत्य को प्रकट करने में सफलता प्राप्त करता है। इसी प्रकार सिडनी ने स्वीकार किया है कि कवि का संसार दृष्टिगोचर होने वाले इस संसार की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से उदात्त होने के कारण भिन्न होता है। उसके आदर्श पर पाठकों और श्रोताओं के चरित्र का निर्माण होता है, ड्राइडन ने भी स्वीकार किया है कि कवि संसार को जैसा देखता और समझता है, वैसा ही चित्रित करता है।

काव्य मानव-प्रकृति का मानस चित्र- प्लेटो, अरस्तू और सिडनी-तीनों ने यह स्वीकार किया था कि कला अनुकरण है। वैसे तीनों विचारकों ने 'अनुकरण' शब्द का अर्थ अलग-अलग किया है। प्लेटो की मान्यता के अनुसार कवि छाया का अनुकरण करता है। अरस्तू के अनुसार अनुकरण की प्रक्रिया में निर्माण का भाव भी छिपा रहता है। सिडनी के मतानुसार कवि दृष्टिगोचर होने वाले विश्व का नहीं, अपितु अपने मानस के आदर्श संसार की भावनाओं का अनुकरण करता है। इसी धपले और वितण्डावाद के कारण ड्राइडन ने अपने काव्य लक्षण में अनुकरण के स्थान पर 'मानस चित्र' शब्द का प्रयोग किया है। इसे बिम्ब अथवा इमेज भी कह सकते हैं। 'काव्य मानव

प्रकृति का मानव चित्र है' इसका तात्पर्य यह नहीं लिया जा सकता कि काव्य में जीवन का वही स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है जो ऊपर से अथवा बाहर से दिखाई पड़ता है।

कविता-रूपी चित्र की यथार्थता- प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कवि जीवन के सतही रूप को अपनी कविता के द्वारा चित्रित करता है? इसी आपत्ति से बचने के लिए ड्राइडन ने कहा है कि-काव्य -रूपी चित्र को यथार्थ होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि चित्र यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया जा सका, तभी वह सत्य को प्रकट करने में समर्थ होगा। ड्राइडन के मत में 'यथार्थ चित्र' का तात्पर्य है-मानव प्रकृति को उसके कार्यों, भावों और भाग्य के परिवर्तनों के माध्यम से प्रकट करना। जब हम काव्य के किसी पक्ष को भाग्य के भीतर पाते हैं, तभी उसके वास्तविक भावों और मनोदशाओं को ठीक-ठीक समझ पाते हैं। आधुनिक युग में इस प्रकार के चित्रण को मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कहा जाता है।

ड्राइडन के स्थिति-काल में जनसामान्य की रुचि मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर भी होने लगी थी। प्रकृति के यथार्थ चित्रण का ड्राइडन का अभिप्राय मनौज्ञानिक यथार्थ से ही था। इस प्रकार की मान्यता सत्य है, जिसे हम साधारण अर्थ में मनोविज्ञान कहते हैं, कोई भी महान् प्राचीन काव्यकृति इससे सूनी अथवा रहित नहीं है। मानव-प्रकृति अर्थात् मनुष्य-स्वभाव के ज्ञान के अभाव में महान् साहित्यकार मानव-जीवन का चित्र अंकित नहीं कर सकता। वास्तविकता यह है कि सत्य स्वयं मनोवैज्ञानिक होता है। उसके साथ मनेवैज्ञानिक शब्द को जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। यथार्थ प्राकृतिक है, यथार्थ ही प्रकृति है। हमारे प्राचीन काव्य ऐसे चित्रों के भंडार हैं, जिन्हें हम आजकल मनोवैज्ञानिक चित्र कहते हैं। यह सत्य है कि वाद के रूप में आजकल मनोवैज्ञानिक यथार्थ अपने कुछ विशेष आग्रह लेकर चल रहे हैं।

काव्य-रूपी चित्र की सप्राणता अथवा प्राणवत्ता- काव्य के रूप में मानव-प्रकृति का यथार्थ चित्र सप्राण अथवा प्राणवान होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो ऐसे चित्र के विषय में ड्राइडन का मत है कि वह काव्य नहीं हो सकता। सप्राणता अथवा प्राणवत्ता के अभाव में चित्र शुष्क होगा। काव्य में शुष्कता सहन नहीं की जा सकती। आलोचक सिडनी ने भी शैली की सप्राणता अथवा प्राणवत्ता का प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को स्वीकार किया था। प्रसिद्ध आलोचक लौंजाइनस ने रमणीयता को काव्य का मुख्य तत्त्व माना है। इस विषय में ड्राइडन लौंजाइनस से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। लौंजाइनस से प्रभावित होने के कारण ही ड्राइडन ने महाकाव्यों से संबंधित सिद्धान्तों के विवेचन में समीक्षक के गुणों की चर्चा करते हुए कहा है-"समीक्षक को निर्णायक होने की अपेक्षा सौन्दर्य का उद्घाटनकर्ता होना चाहिए।"

ड्राइडन के अनुसार काव्य का प्रयोजन- ड्राइडन ने स्वीकार किया है कि मानव जाति को आनन्द प्रदान करना और शिक्षा देना काव्य का लक्ष्य है। इसे हम प्रयोजन भी कह सकते हैं। सिडनी का काव्य-संबंधी प्रयोजन इससे मिलता-जुलता है। सिडनी ने काव्य का लक्ष्य आनन्द के माध्यम से शिक्षा देना स्वीकार किया है। ड्राइडन ने सिडनी की इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। काव्य से आनन्द और शिक्षा दोनों की प्राप्ति किस प्रकार होती है? इस प्रश्न के उत्तर में ड्राइडन ने कहा है-"चूँकि काव्य मानव प्रकृति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है, इसलिए पाठकों, दर्शकों अथवा श्रोताओं को उससे ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान की उपलब्धि स्वयं आनन्ददायक अनुभूति है, इस प्रकार काव्य हमें आनन्द प्रदान करता है। काव्यानन्द का दूसरा कारण है-काव्य की सप्राणता अथवा प्राणवत्ता।

तात्पर्य यह है कि मानव-प्रकृति के चित्र की सप्राणता अथवा प्राणवत्ता के कारण और मनोवैज्ञानिक यथार्थताओं को काव्यगत पात्रों में देखने से हमें आनन्द की प्राप्ति होती है।

ध्यान देने पर समझ में आ जायेगा कि ड्राइडन ने सिडनी की बात को एक प्रकार से उलटकर प्रस्तुत किया है। काव्य आनन्द के माध्यम से शिक्षा नहीं देता है, जैसी कि सिडनी की मान्यता है। वास्तविकता यह है कि काव्य की शिक्षा भी आनन्द की उपलब्धियों में सहायक होती है। सिडनी और ड्राइडन के मतों की तुलना की दृष्टि से नहीं, विषय की स्पष्टता के विचार से भारतीय आचार्य कुन्तक का काव्य के प्रयोजन से संबंधित मत ध्यान देने योग्य है-

चतुर्वर्ग फलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृत रसेनान्तश्चमत्कारो विधीयते॥

(काव्यरूपी अमृत का रस उसे काव्य को समझने वालों के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग के उपदेशरूप फल के आस्वाद को जीतकर तथा उसे भूमि का बनाकर चमत्कार अर्थात् आनन्द का संचार करता है।)

अपने इस मत की व्याख्या में आचार्य कुन्तक ने जो कुछ कहा है, उसका आशय यह है कि अध्ययन के समय आनन्द का ही अनुभव होता है, उपदेश का ज्ञान तो बाद में होता है। आचार्य कुन्तक ने उपदेश को काव्य का कालान्तर में होने वाला अध्ययन समाप्त होने पर अनुभव में आने वाला प्रयोजन स्वीकार किया है और आनन्द को तत्काल भावति अर्थात् अध्ययन काल में अनुभव होने वाला प्रयोजन स्वीकार किया है।

आचार्य कुन्तक के उपर्युक्त कथन का दूसरा आशय यह है कि काव्य का आनन्द काव्य के उपदेश को भूमि का बनाकर संचरित होता है, गतिशील होता है। तात्पर्य यह है कि उपदेश काव्यानन्द के संचरण में सहायक होता है। आनन्द का मुख्य कारण कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' माना है। वे वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन मानते हैं-

वक्रोक्तिः काव्यजीवीतम्।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि काव्य-वस्तु और काव्य-रूप दोनों मिलकर आनन्द का संचार करते हैं। पाश्चात्य विचारक कॉलरिज का मत भी इसी से मिलता-जुलता है। ड्राइडन के ऊपर बतायें गये मत का तात्पर्य भी यही है। यही कारण है कि ड्राइडन ने काव्य का एकमात्र लक्ष्य आनन्द देना न मानकर, प्रमुख लक्ष्य स्वीकार किया है।

लौंजाइनस ने पाश्चात्य समीक्षा को भावात्मक उत्तेजना का सिद्धान्त दिया। सिडनी ने यह आवश्यक माना है कि सप्राणता और भावावेग के साथ काव्य को प्रस्तुत किया जाना चाहिए। ड्राइडन लौंजाइनस से बहुत अधिक प्रभावित थे। इसी कारण उन्होंने काव्य का सप्राण अथवा प्राणवान होना अनिवार्य बताया। इस बात पर ध्यान देना महत्त्व की बात होगी कि ड्राइडन काव्य को वर्णन नहीं, अपितु मानस-चित्र स्वीकार करते हैं। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि मानव-चित्र में संकेत होता है। इसके विपरीत वर्णन में स्थूल कथन होता है। यह स्पष्ट हो चुका है कि ड्राइडन काव्य को ध्वन्यात्मक स्वीकार करते हैं। वर्णन में श्रोता की कल्पना के लिए कुछ नहीं छोड़ा जाता है। उसे सुनकर या पढ़कर कल्पनात्मक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। ड्राइडन ने जो संवादात्मक निबन्ध 'एस्से ऑन ड्रैमेटिक पोइट्री' की रचना की है, उसमें एक विद्वान् का यह मत सर्वथा उचित है, "कला की सर्वाधिक पूर्णता इस बात में है कि वह अपने आपको अव्यक्त रखे।"

भारतीया आचार्यों ने भी इस तथ्य को हृदयंगम किया था। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है-

काव्यस्यात्मा ध्वनिरीति बुधैर्यःसमाम्नातपूर्वः,
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तयान्ये।
केचिद्वाचां स्थितिरविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं,
तेन ब्रूमः सहृदय मनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥

(प्राचीनकाल के विद्वानों ने जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। अन्य विद्वान ध्वनि का अभाव बताते हैं। तात्पर्य यह है कि वे कहते हैं कि ध्वनि है ही नहीं। अन्य विद्वान उसे शाब्दी-लक्षणा स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि उस ध्वनि का तत्त्व वाणी का विषय नहीं है। इस कारण सहृदयों के मन को प्रसन्न करने के लिए उसका स्वरूप कहते हैं।)

आचार्य आनन्दवर्धन का आशय यही है कि आनन्द संकेत में है, स्कूल कथन में नहीं। काव्य का आशय किस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त रहे, इसे स्पष्ट करने के लिए यह श्लोक मनोरंजक सिद्ध हो सकता है-

नो गुर्जरी स्तन इवातितरांप्रगूढ़ो,
नांध्रिपयोधर इवातितरां प्रकाशः।
अर्थो गिरामविहितः पिहितश्च किंचित्,
रम्यत्वमेति मरहट्टवधू कुचाभः।

(वाणी का रमणीय अर्थ न तो गुर्जरी अर्थात् गुजरात की युवती के स्तनों के समान अत्यधिक गूढ़ अर्थात् छिपा हुआ होता है और न वह आंध्र प्रदेश की नारी के स्तनों के समान एकदम व्यक्त अर्थात् खुला हुआ रहता है। वह मरहर वधू अर्थात् महाराष्ट्र की निवासिनी युवती के समान अर्द्धउद्घाटित और अर्द्धअनुद्घाटित दोनों होता है। तात्पर्य यह है कि वाणी का रमणीय अर्थ महाराष्ट्र प्रदेश की वधू के समान गूढ और स्पष्ट दोनों प्रकार का होता है।)

लॉर्ड टेनीसन ने अर्द्धउद्घाटित अर्द्धअनुद्घाटित कहकर इसी मत का समर्थन किया है। हिन्दी में भी यह कथन प्रसिद्ध है-

सब उघरे सोहैं नहीं, कवि आखर और सुतियं कुच।

कहने का तात्पर्य यह है कि ड्राइडन काव्य की ध्वन्यात्मकता में विश्वास करते हैं। तात्पर्य यह है कि ड्राइडन काव्य को स्पष्ट अर्थ वाला न मानकर ध्वनि अर्थ वाला स्वीकार करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी ध्वनि को स्पष्ट रूप से काव्य का कोई अंग न मानकर अंगनाओं में लावण्य के समान सर्वत्र व्याप्त स्वीकार करते हुए लिखा है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महा कवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धा वयवातिरिक्तं विभाति लावण्य मिवांगनासु॥

(यह प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणियों में अर्थात् कविताओं में वाच्य अर्थ से भिन्न है तथा एक विशेष वस्तु है। यह प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार का है जो सहृदय व्यक्तियों में ही प्रसिद्ध है। यह प्रतीयमान अर्थ लोक में प्रसिद्ध अंगनाओं में लावण्य के समान है। अलंकारों से तथा रीतिवृत्ति आदि से सर्वथा भिन्न है। यह ड्राइडन की इस मान्यता का कारण है कि उसका विश्वास काव्य के द्वारा मानव-कल्याण को आनन्द प्रदान करना है। यदि यह कथन सत्य और उचित है तो अंग्रेजी समीक्षा में कल्पना को अधिक महत्त्व प्रदान करने वाला अंग्रेजी का पहला मौलिक समीक्षक

ड्राइडन ही सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि अंग्रेजी काव्यशास्त्र अथवा समीक्षाशास्त्र में ड्राइडन ही वे पहले आचार्य कहे जाने चाहिए, जिन्होंने अंग्रेजी समीक्षा में कल्पना का महत्त्व प्रतिपादित किया।

ड्राइडन ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है-"काव्य मानव-प्रकृति का यथार्थ और सप्राण अथवा प्राणवान चित्र है जो मानव-जाति के आनन्द और शिक्षा प्रदान करने के निमित्त मानव-प्रकृति के भावों, मनःस्थितियों और भाग्य के परिवर्तनों को प्रस्तुत करता है।"

ड्राइडन ने काव्य की इस परिभाषा में 'यथार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। इसे अंग्रेजी में 'जस्ट' कहा गया है। इस यथार्थ अथवा जस्ट शब्द पर भी विचार कर लेना चाहिए। काव्य मानव-प्रकृति का यथार्थ चित्र है। क्या ड्राइडन यह चाहते हैं कि मानव-प्रकृति को हू-ब-हू अर्थात् ज्यों-का-त्यों का प्रस्तुत किया जाये? ड्राइडन का इस विषय में कहना है कि काव्य में प्रकृति को उच्चतर भूमि पर चित्रित किया जाता है।

(Its nature wrought upto a higher pitch.)

उसकी घटना-योजना, चरित्र, अलंकरण, भाव और वर्णन सभी सामान्य धरातल से उतनी ऊँचाई पर प्रस्तुत किये जाते हैं, जहाँ तक कवि की कल्पना उन्हें यथार्थ के वास्तविक अनुपात में रखती हुई ले जा सकती है।

इसी का विवेचन करते हुए ड्राइडन ने आगे कहा है-"प्रकृति के सदृश होने के लिए नाटक और काव्य को उससे अर्थात् प्रकृति से ऊपर रखना अनिवार्य है। जिस प्रकार ऊँचाई पर रखी जाने वाली मूर्तियाँ मूल की अपेक्षा अधिक बड़ी बनायी जाती हैं, ताकि वे देखने वाले को यथार्थ रूप में दिखाई दें।"

तात्पर्य स्पष्ट है कि काव्य मानव-प्रकृति का यथार्थ चित्र तो प्रस्तुत करता है, किन्तु वह उसे उच्चतर भूमि पर अवस्थित करता है, ताकि हम उसे यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकें। यह उच्चतर भूमि नैतिक नहीं, काव्यात्मक होती है।

ड्राइडन और नैतिक दृष्टि- ड्राइडन ने नैतिक दृष्टि से यह उपर्युक्त मत व्यक्त नहीं किया है, क्योंकि उनका यह कथन इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि नाटक में पद्य आवश्यक है अथवा नहीं। प्रश्न करने वाला नाटक में पद्य को अस्वाभाविक और अप्राकृतिक मानता था। ड्राइडन ने उसी को उत्तर दिया है कि यह अर्थात् नाटक में पद्य का प्रयोग प्राकृतिक नहीं है, अपितु प्रकृति को उच्चतर भूमि पर रखना है, जिससे हम उसे यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकें। इस प्रकार स्पष्ट है कि उच्चतर भूमि से ड्राइडन का आशय नाटकीय और काव्यात्मक विधान से था।

काव्य मानव प्रकृति का यथार्थ चित्र और नैतिकता- इसी से संबंधित यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि ड्राइडन ने काव्य को मानव-प्रकृति का यथार्थ चित्र नैतिक दृष्टि से नहीं, अपितु काव्यात्मक दृष्टि से माना है तो क्या कोई भी यथार्थ रूप प्रस्तुत करना काव्य का काम है? क्या प्रकृति का कोई रूप काव्य का वर्ण्य विषय बनाया जा सकता है? मानव-प्रकृति विभिन्न आकांक्षाओं और प्रेम-रूपों में व्यक्त होती है तो क्या उन सभी का यथार्थ और सप्राण चित्र काव्य होगा?

इस प्रश्न का उत्तर ड्राइडन द्वारा प्रस्तुत की गयी काव्य की परिभाषा में ही है। ड्राइडन के अनुसार काव्य का लक्ष्य मानव जाति को आनन्द और शिक्षा देना है। स्पष्ट है कि मानव जाति जिस प्रकृति रूप में आनन्द प्राप्त करेगी, उसका एक सामान्य नैतिक स्तर अवश्य होगा। कुछ व्यक्तियों को उस स्तर के नीचे का रूप भी आह्लादकारक हो सकता है, किन्तु सम्पूर्ण मानव समुदाय को वह

आनन्द प्रदान करेगा, यह नहीं कहा जा सकता। यदि किसी रूप को समस्त मानव-जाति देखकर आनन्दित हो उठे, तो बिना किसी सन्देह के वह नैतिक आधार पर खड़ा होगा। ड्राइडन का युग भी आज का नहीं था कि वह आधुनिक यथार्थवाद का समर्थन करता। इसलिए ड्राइडन के मत को नग्न यथार्थवाद तक ले आना हठ ही कहा जायेगा।

ड्राइडन ने नाटक के विषय में तथा कविता के विषय में जो कुछ कहा है, उसका सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में इतना कहना न्याय और सत्य की उपासना है कि ड्राइडन स्वस्थ साहित्यिक चिन्तक था। उसके काव्य और नाटक संबंधी विचारों और मान्यताओं का मनन करना प्रत्येक साहित्य-जिज्ञासु के लिए लाभकारी होगा। ड्राइडन ने जो कविता के आनन्द के साथ शिक्षा प्राप्त करने या होने की बात कही है, वह भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यता के सर्वथा अनुरूप है। काव्य की आत्मा के विषय में संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने अनेक प्रकार की स्थापनाएँ और मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं, परन्तु काव्यशास्त्र के आदिआचार्य भरतमुनि के एक सिद्धान्त पर यह बात आकर ठहरी है। अन्तिम रसवादी आचार्य विश्वनाथ कविराज की काव्य-परिभाषा सर्वमान्य हुई है। उन्होंने काव्य को रसात्मक वाक्य घोषित करते हुए कहा है-

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

रस का आकार आनन्दमय होता है। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के अध्ययन एवं श्रवण को अल्पबुद्धि वालों को चारों वर्गों-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति का साधन बताया है।

चतुर्वर्ग फलावाप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यदेव मतस्तेन तत्स्वरूपं निगद्यते॥

(सुकुमार मति वालों को तथा परिणत् बुद्धि वालों को अनायास ही चतुर्वर्ग अर्थात् चार फलों की प्राप्ति काव्य से ही हो सकती है, वेदादि शास्त्रों से नहीं हो सकती है। अतः उस काव्य का स्वरूप निरूपित किया जा रहा है।)

काव्य से चतुर्वर्ग फल की किस प्रकार हो सकती है, इसका उत्तर देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है-

"चतुर्वर्ग फल प्राप्ति ही काव्यतो 'रामादिवत प्रवर्तितव्यं, नरावणादिवत्।' इत्यादि कृत्याकृत्य प्रवृत्ति निवृत्युप देशवशा द्वारेण सुप्रतीतैव।"

(काव्य से चतुर्वर्ग-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और राम आदि के समान माता-पिता की आज्ञादि परिपालन में प्रवृत्त होना चाहिए। रावणादि की तरह परदाराओं के हरण में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए इत्यादि रीति से विहित कर्मों में प्रवृत्ति और अविहित कर्मों से निवृत्ति के उपदेश के द्वारा सुप्रसिद्ध नहीं है।)

विहित कर्मों में प्रवृत्ति और विहित कर्मों से निवृत्ति की शिक्षा काव्य के अनुशीलन से प्राप्त होती है। भारतीय काव्यशास्त्र की यह मान्यता ड्राइडन की काव्य से शिक्षा प्राप्त करने की समानता है।

विलियम वर्ड्सवर्थ के काव्य-भाषा संबंधी चिन्तन

वर्डसवर्थ ने काव्य की भाषा पर विशदता और गंभीरता से विवेचन किया है तथा उन्हीं के समकालीन कवि-कॉलरिज ने उनका इस विषय पर तीव्र मतभेद है। वर्डसवर्थ के मतानुसार, कवि अपनी बात सामान्य व्यक्ति से कहता है, वह जनसाधारण के लिए लिख रहा है तो संप्रेषण कविता

का अनिवार्य मूल्य है। वर्डसवर्थ का भाषा संबंधी विवेचन काव्य के कथन के विवेचन से अनिवार्य रूप से संबद्ध है-कवि जनता की भावनाओं को जनता की भाषा द्वारा व्यक्त करता है।

अत: कवि अपनी भावनाओं को उन व्यक्तियों की भावनाओं के निकट लाना चाहेगा जिनकी भावनाओं का वह निरूपण करता है-बल्कि शायद कुछ समय हेतु अपने आपको एकदम भ्रमान्वित हो जाने देना चाहेगा कि उनकी भावनाएं उनकी भावनाओं के साथ एकाकार हो जाएं, उनका परस्पर तादात्म्य हो जाए, हां वह इस तरह स्फुरित होने वाली भाषा में संशोधन कर लेगा-यह सोचकर कि वह एक विशेष प्रयोजन से कह रहा है कि पाठक आनंद लाभ करे।

यह जरूरी है कि कवि जिन व्यक्तियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति कर रहा है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित करे तथा भाषा को पाठकों की योग्यता के अनुरूप संशोधित करे या उसमें संप्रेषण शक्ति को बनाये रखे। इस तरह वर्डसवर्थ ने काव्य में जनसाधारण को प्रतिष्ठित किया तथा इस तरह कविता को अपने नवीन उत्तरदायित्व, सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने के लिए पूरी तरह समर्थ बनाने का प्रयास किया।

कविता की भाषा को लेकर तीन महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सम्मुख आते हैं-

1. कविता की भाषा और जनता का क्या संबंध है?
2. कविता की भाषा और गद्य की भाषा का क्या संबंध है?
3. कविता की भाषा में छंद का क्या महत्व है?

वर्डसवर्थ का स्पष्ट मत है कि कविता की भाषा जनता की ही भाषा होनी चाहिए, क्योंकि वह जनता के लिए जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति करती है- इस मत के विरोधियों का खंडन करते हुए वह कहता है कि अगर यह मान्य है कि कवि जनसाधारण के लिए लिखता है तो उसे कृत्रिम या कल्पित भाषा का प्रयोग करने की छूट नहीं दी जा सकती-

इनका और ऐसी ही संवेदनाओं और विषयों का निरूपण कवि करता है-'ये ही संवेदनाएं औरों की भी होती हैं। इन्हीं विषयों में औरों की अभिरुचि भी होती है। मानवीय वासनाओं के अनुरूप ही वह सोचता है, वैसी ही अनुभूतियां उसमें जगती हैं। तब जिन लोगों की दृष्टि अमलिन होती है और जो अनुभूति-प्रवण होते हैं उनकी भाषा से कवि भाषा बहुत भिन्न कैसे हो सकती है? यह प्रमाणित किया जा सकता है कि यह असंभव है। यदि मान लें कि ऐसा नहीं है, तो हम कवि को अपने या अपने सरीखे अन्य लोगों को परितोष के लिए अपनी भावनाएं व्यक्त करते समय विशेष प्रकार की भाषा के प्रयोग की छूट दे सकते हैं लेकिन कवि, कवियों के लिए तो लिखते नहीं, जनसाधारण के लिए लिखते हैं। अत: यदि हम अज्ञानमूलक प्रशस्ति के हिमायती नहीं तो निश्चय ही कवि को इस कल्पित ऊंचाई से उतरना होगा और अन्य लोगों की भांति ही अपनी अभिव्यक्ति करनी होगी, ताकि लोग बात समझें तथा समझकर सराहना तथा सहानुभूति दे सकें। इसके साथ ही यह भी कह दिया जाए कि जब वह मानव की यथार्थ भाषा से इस प्रकार चयन करता है या यों कहें कि इस प्रकार चयन की भावना से प्रेरित रचना करता है तब मानों उसके कदम सुरक्षित भूमि पर बढ़ रहे होते हैं और हमें भी ज्ञात होता है कि हम उससे क्या प्रत्याशा करते हैं।

वर्डसवर्थ के उपर्युक्त विवेचन से ध्वनित हो जाता है कि हालांकि कवि को अपनी भाषा का चयन जनता की भाषा से करना चाहिए, पर विशुद्ध जन-भाषा में रचना कवि नहीं कर सकता। कविता की भाषा का जनता की भाषा से समीपवर्ती संबंध होना चाहिए, हालांकि चयन के आधार पर उसमें कतिपय परिवर्तन तथा परिमार्जन की अपेक्षा रहती है।

वर्डसवर्थ के उपर्युक्त मत के बारे में दो बातें कही गयी हैं। पहली बात तो यह है कि वह स्वयं ही अपने इस सिद्धांत का निर्वाह नहीं कर पाया। इसमें संदेह नहीं कि वर्डसवर्थ जन-भाषा का समर्थन करते हुए परंपरा से चली आती काव्य भाषा की कृत्रिमता और दुरूहता का विरोध करता है, जहां तक इस विरोध के महत्व का सवाल है उसके बारे में विवाद नहीं हो सकता। लेकिन साथ ही यह मान्यता भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि जनता की भाषा में ही कविता की रचना की जा सकती है क्योंकि वर्डसवर्थ ने स्वयं भाषा में चयन तथा कल्पना के उपयोग के महत्व को स्वीकार किया है। वह मानता है कि जनता की भाषा का प्रयोग एक अन्य दृष्टि से भी उपयोगी है। जनता की भाषा का संबंध जीवन के रोजमर्रा तथा प्रमाणिक अनुभवों से होता है तो इससे भाषा की, उन अनुभवों को व्यक्त करने की, शक्ति बढ़ जाती है। प्रयोग से आम भाषा में सहजता की भी रक्षा होती रहती है तथा उसकी शक्ति में वृद्धि होती है। साथ ही ऐसा भाषा में रचा गया काव्य जनता के लिए सरलता से ग्राह्य होगा, वह जनता में गंभीर अनुभूति जगाने में समर्थ होगा। लेकिन ठीक इसके विपरीत भी तर्क दिया जाता है। एक ही भाषा के तत्वों के, रूपक आदि के, बार-बार प्रयोग से उनकी शक्ति क्षीण होने लगती है, क्योंकि सहृदय उनका इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे उस प्रयोग में कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। उदाहरण के लिए जब किसी ने पहली बार मुख के लिए चंद्रमा के उपमा का प्रयोग किया वह प्रयोग विलक्षण एवं नूतन होने के कारण सहृदय की बरबस आसक्त करने में असमर्थ हुआ होगा। मगर सदियों तक चंद्रमा के उपमा के प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि उसमें प्रभाव डालने की शक्ति कम होने लगी और फिर नये प्रयोगों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस प्रकार एक मत यह भी है कि बार-बार प्रयोग से भाषा की शक्ति कम होने लगती है।

पर वर्डसवर्थ के उपर्युक्त मत को ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर देखना जरूरी है। नव्य अभिजात्यवाद के प्रभाव के कारण पुराने रूढ़ और दुरूह प्रयोगों को महत्व उस युग में निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित था। जब काव्य की नई चेतना का उदय हुआ, आलोचना की नई दृष्टि का उदय हुआ तो स्वाभाविक था कि काव्य के सभी पक्षों के बारे में नये सिरे से विचार हो। दरअसल ये तीनों बातें बदलती हुई चेतना के अभिन्न पक्ष हैं। इसलिए इस संदर्भ में रखकर देखने पर वर्डसवर्थ के मत का महत्व स्पष्ट होता है।

"कोलेरिज की आलोचना संबंधी धारणाओं

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के इतिहास में प्रतिभा-संपन्न कवि आलोचक कोलरिज का स्थान महत्वपूर्ण है। उनका पूरा नाम सैमुअल टेलर कोलरिज था। उनका काल सन् 1722 से 1834 तक माना जाता है। ये कवि वर्डसवर्थ के मित्र तथा सहयोगी भी थे। इनकी रचनाओं में दो रचनाओं 'बॉयग्रेफिका लिट्रेरिया' और 'लैक्चर्स ऑन शेक्सपियर' को विशेष ख्याति मिली थी। दार्शनिक होने के कारण इनकी मान्यताओं में चिंतन की प्रधानता समाहित हो गई है।

कोलरिज का काव्य-शास्त्रीय चिंतन

कोलरिज ने काव्य-साहित्य के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। यहां उनमें से प्रमुख का उल्लेख किया जा रहा है– 1. कल्पना सिद्धांत, 2. कला संबंधी दृष्टिकोण, 3. काव्य-संबंधी धारणा, 4. काव्य-भाषा, 5. काव्य और गद्य, 6. काव्य-प्रतिभा, 7. नाटकीय भ्रांति, 8. छंद और काव्य।

1. **कल्पना सिद्धांत-** कोलरिज के अनुसार कल्पना दो तरह की होती है- प्रारंभिक और विशिष्ट। उनके अनुसार, "कल्पना द्वारा ही काव्य हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी और सजीव बनता है, अत:

कल्पना की क्षमता तथा महत्व, अक्षुण्ण है। कल्पना-प्रयोग की अंत:शक्ति कवि का सर्वश्रेष्ठ गुण है और उसका समुचित प्रयोग काव्योत्कर्ष के क्षणों की समुचित देन है।" वे इसे इस ढंग से कहते हैं- "The imagination is a power which the artist can only use when he is athis best." अर्थात् कल्पना वह शक्ति है जिसका प्रयोग कलाकार अपने सर्वोत्तम भावात्मक क्षणों में करता है।

(i) **Primary Imagination (आद्य कल्पना)** - इसकी परिभाषा उन्होंने इस तरह दी है-"Power of perceiving the objects of senser." अर्थात् इंद्रियगोचर पदार्थों की प्रतीतानुभूति की क्षमता। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है। उन्होंने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा, "The primary imagination I hold to be the living power and prime agent of all human perceptions."

(अर्थात् प्राथमिक कल्पना और एक जीवति तथा महत्वपूर्ण शक्ति है, जिससे हमें मानवीय पदार्थों का बोध होता है) अर्थात् इंद्रियों द्वारा जिन विभिन्न वस्तुओं का बोध होता है, यह कल्पना ही उन्हें व्यवस्था में ढालती है, अव्यवस्थित बिखरे बिम्बों को शनैः-शनैः ज्ञान का रूप प्रदान करती है-यह स्वाभाविक तथा सहज मानवीय गुण है।

(ii) **Secondary Imagination (गौण कल्पना)** - यह विशिष्ट लोगों में पायी जाती है। सत्यदेव मिश्र ने इसको इस तरह प्रस्तुत किया है-"(यह कल्पना) प्रकृति में पदार्थों के पाये जाने वाले अव्यवस्थित स्वरूप को एक निश्चित रूप देने की इस अंत:शक्ति का अभिप्रेत प्रयोग है। प्रथम अगर रूपकार ढालने की अनभिप्रेय अंत:शक्ति है तो दूसरी अभिप्रेय अंत:शक्ति। कहना यह है कि गौण कल्पना प्रारंभिक कल्पना का ही वह विकसित रूप है, जिसका प्रयोग सर्जक स्वेच्छा से करता है। गौण कल्पना एवं संयुक्त आत्मिक ऊर्जा है, जिसमें मन:शक्ति अथवा आत्म-शक्ति के अन्य सभी पहलू प्रत्यक्ष-ज्ञान शक्ति, विचार शक्ति, संकल्प शक्ति, मनोवेग आदि सभी समाहित हो जाते हैं।" उन्होंने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है-

"It (secondary imagination) is a composite faculty of the soul. Consesting all other faculties, perception, intellect with emotions while the primary imagination uses only the first pertion, it employs all."

कल्पना का महत्व- वे कल्पना को ही काव्य का मूलाधार स्वीकार करते हैं, क्योंकि विरोधी गुणों में सामंजस्य वही स्थापित करती है।

"It is the unifying faculty of imagination that the opposite forces are reconceled."

डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार, "प्रकृति के पुन:सर्जन में भी कल्पना ही सहायक होती है। कलाकार प्रकृति की अनुकृति नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि वह प्रकृति से जीत नहीं सकता। अत: वह पुन:सर्जन की ओर बढ़ता है। वह प्रकृति को अधिक सुंदर रूप में प्रस्तुत करता है। वह बहिर्जगत से प्राप्त सूत्रों का समावेश कर प्रकृति को अधिक पूर्ण रूप प्रदान करता है।" कोलरिज के अनुसार, कल्पना की महत्ता और क्षमता अपरिमित है, वह कवि का अनिवार्य गुण है और कवि उसका प्रयोग उत्कर्ष के ही क्षणों में करता है। "Imagination is a power which the artist can only use when he is at his best."

कल्पना और ललित कल्पना- डॉ. तारकनाथ बाली के अनुसार-कोलरिज ने दिवास्वप्न में बिम्बों का निर्माण करने वाली शक्ति को कल्पना कहा और दोनों में से एक तरह का अंतर माना। ललित कल्पना या फैंसी एक ऐसी शक्ति है जो प्रत्ययों का संश्लेषण तो करती है लेकिन यह संश्लेषण रचनात्मक नहीं होता, जड़ तथा विश्रृंखल होता है। यह एक तरह की शक्ति है, जो दिव्य होने के साथ-साथ सर्जनात्मक है। रचनात्मकता उसका मूल गुण है। कल्पना द्वारा निर्मित बिम्बों में सम्बद्धता होती है, क्रम होता है, सावयविक एकता होती है तथा वे आस्वाद्य होते हैं। इस तरह ललित कल्पना एक निम्न स्तर की शक्ति है जो ऐसी स्मृति का रूप है जो रचनात्मक तो नहीं होती, लेकिन आस्वाद्य होती है।"

2. **कला संबंधी दृष्टिकोण-** कोलरिज के अनुसार कला प्रकृति की पवित्रात्मा की अभिव्यक्ति है, जिसमें प्रकृति और मानवात्मा के बीच एक बंधन अपेक्षित है। "(Art reveals) the nature a naturans (the very spirit of nature) which presuposes a bond between nature in the higher sense and the soul of man."

"इस प्रकार कला एक अनुकरण एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ठहरती है, जिसका उद्‌भव मानवात्मा का प्रकृति पर प्रभाव और प्रकृति का मानवात्मा के प्रभाव से उत्पन्न दोनों (प्रकृति और मानवात्मा) के अस्तित्वों के विलयन (Fusion) से होता है।" कोलेरिज ने कला की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा- 1. कला (विशेष रूप से काव्य-कला) विरोधी और असंगत गुणों का संतुलन अथवा सामंजस्य है। 2. यह सामंजस्य सादृश्य का असदृश्य से, सामान्य का निश्चित से, विचार का बिम्ब से, व्यक्ति का प्रतिनिधि से, नवीनता और ताजगी का प्राचीन और परिचित वस्तुओं से, असामान्य संवेगों का असामान्य व्यवस्था से, दृढ़ आत्म-प्रतिष्ठा का उमंग तथा गहन एवं प्रचंड भावोद्‌गारों से होता है। 3. इस असंगत और विरोधी गुणों को समन्वित करने की कला की शक्ति निश्चित ही देश-कालातीत एवं सार्वभौमिक है। 4. इस शक्ति का उद्‌भव कला में तभी होता है, जबकि उसका उद्‌गम प्रकृति और मनुष्यता के पूर्ण समन्वय अथवा विलयन से हुआ हो।

3. **काव्य-संबंधी दृष्टिकोण-** कोलरिज ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा, "It is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure, through the medium of beauty."

अर्थात् सौंदर्य के माध्यम से आनंदाद्रेक के लिए भावों को आंदोलित करना ही कविता है। उन्होंने कविता को "नवीन ज्ञानों, मानवीय विचारों, मानवीय भावावेगों तथा भाषा का खिलता हुआ तथा पुष्प तथा सुगंध कहा है।" साथ ही वे उसमें बुद्धि तथा दृश्य का अद्‌भुत प्रकार का समन्वय चाहते हैं।

4. **काव्य-भाषा-** कोलरिज की काव्य-भाषा संबंधी धारणा वर्डसवर्थ के ही समान न होकर उनकी धारणा का खंडन करती है। उनकी मान्यता है कि-1. व्यक्ति की भाषा उसके ज्ञान और भावना के आधार पर भिन्न होती है, 2. इसमें देश, काल, वातावरण तथा समुदाय की भिन्नता के कारण भी भिन्नता होती है, 3. आम भाषा और पद्य की भाषा में अंतर होना स्वाभाविक है। उन्होंने कहा- "Every man's language varies according to the extent to his knowledge the activity of his faculties and the depth or quickness of his feelings. Every man's language has first, its individualities, secondly, the common properties of the class to which be belongs and thirdly, words and phrases of universal use."

5. **काव्य और गद्य-** वर्डसवर्थ का मत था कि पद्य तथा गद्य में मूलतः कोई अंतर नहीं होता किन्तु कोलरिज इस कथन से असहमति व्यक्त करते हैं। कोलरिज के अनुसार पद्य तथा गद्य में वही अंतर है जो गद्य तथा बोलचाल की भाषा में। उन्होंने 'श्रेष्ठ क्रम में शब्दों की प्रस्तुति' को गद्य और 'श्रेष्ठ क्रम में श्रेष्ठ शब्दों की प्रस्तुति' को पद्य कहा है। उनके अनुसार गद्य की रचना कभी-भी छंदोबद्ध रचना अर्थात् पद्य के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। कोलरिज के मतानुसार, "काव्य-रचना की समूची प्रक्रिया उत्तेजना की असाधारण अवस्था की देन होती है और वह गद्य-रचना की अवस्था से सर्वथा भिन्न कोटि की होती है।"

-डॉ. देवीशरण रस्तोगी

6. **काव्य प्रतिभा-** कोलरिज प्रतिभा और निपुणता में भेद करते हैं। उनके अनुसार प्रतिभा सृजनात्मक शक्ति है, निपुणता समन्वयकारी। सत्यदेव मिश्र ने उनके प्रतिभा संबंधी विचारों को इस तरह व्यक्त किया है-

(a) **संगीतिक आह्लाद की अनुभूति-** प्रतिभा संपन्न सर्जक काव्यगत संगीतिक आह्लाद के प्रति पूर्णतः संवेदनशील होते हैं अर्थात प्रतिभा-संपन्न सर्जक कविता के विचारों के अनुकूल ही संगीत की सृष्टि करते हैं। काव्य रचना में पूर्ण मधुरिमा का समावेश करने में सक्षम होते हैं।

(b) **विषय-निष्ठता-** प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति अपनी परिस्थितियों तथा अभिरुचि को काव्य-विषय-चयन और कवि-कर्म से दूर ही रखता है। वे प्रतिभा और निर्वैयक्तिकता का निकट का संबंध मानते हैं अर्थात् काव्यकार को स्थूल रूप से अपने स्व से हटकर काव्य-रचना करनी चाहिए।

(c) **कल्पना की परिवर्तन और आकार-निर्माण करने वाली शक्ति-** प्रतिभा-संपन्न कलाकार दृश्यमान जगत से जीवनहीन पदार्थों या वस्तुओं में कल्पना की सहायता से प्राणों का संचार करता है, उन्हें जीवित बनाता है।

(d) **विचारों की शक्ति और गहनता-** उनकी धारणा है कि कोई भी कवि उस क्षण तक महान कवि नहीं हो सकता, जब तक कि वह एक गंभीर दार्शनिक नहीं होता। प्रेरणा के क्षणों में मस्तिष्क में अद्‌भुत भावोद्‌गारों पर दार्शनिकों जैसी गंभीरता से चिंतन करके पर्याप्त परिवर्तन-परिवर्द्धन के बाद ही उन्हें साहित्य में उतारा जाता है। वे कविता को इसी कारण The Union of deep feeling with profound thought मानते हैं।

7. **नाटकीय भ्रांतियां-** कोलरिज ने मिथ्या कथाओं पर भी विचार कियाहै। वे कथाएं साहित्य में उभरती हैं। उनकी मान्यता है कि इनका समावेश नवीनता और आकर्षण लाने हेतु होता है। कोलरिज इस पक्ष में हैं कि उनकी प्रस्तुति इस प्रकार हो कि विश्वसनीयता बनी रहे। उनका आधार तो काल्पनिक ही होता है। "To procure for these shadows of imaginagion that willing suspension of disbelief (else where called negative faith) for the moment which constitutes poetic faith."

8. **छंद और काव्य-** "कोलरिज के विचार से जहां तीव्र मनोवेगों की अभिव्यक्ति होगी वहां छंद का प्रयोग होगा ही, भावावेगों की तीव्रता से अभिव्यक्ति को स्वयंमेव छंदबद्ध कर देती है। छंद का यही रूप कोलरिज को स्वीकार्य है। वह छंद को बाह्य अलंकारण के रूप में ग्राह्य नहीं मानता।"

-डॉ. देवीशरण रस्तोगी

उन्होंने अपनी छंद संबंधी मान्यता को इस तरह व्यक्त किया है-"छंद एक प्रकार का खमीर है जो स्वयं में व्यर्थ एवं अरुचिकर होता है, पर यदि उसे उपयुक्त अनुपात में मादक द्रव्य के साथ मिला दिया जाए तो उसके स्वाद और स्वभाव को वह बढ़ा देता है।"

कोलरिज का महत्व- उनकी मान्यताओं में मनोविज्ञान का पुट अधिक है, पर उन्हें उच्चकोटि के कवि और चिंतक मानने से किसी को आपत्ति होने का कोई कारण नहीं है।

कॉलरिज के अनुसार कल्पना तथा ललित कल्पना

कल्पना वह शक्ति है जिसका प्रयोग कलाकार अपने सर्वोत्तम भावात्मक क्षणों में करता है।

(1) **आद्य-कल्पना-** इसकी परिभाषा कॉलरिज ने इस प्रकार दी है-"Power of perceiving the objects of senser." अर्थात् इन्द्रियगोचर पदार्थों की प्रतीतानुभूति की क्षमता। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है। उन्होंने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है-"The primary imgination I hold to be the living power and prime agent of all human perceptions."

अर्थात् प्राथमिक कल्पना एक जीवित एवं महत्वपूर्ण शक्ति है, जिससे हमें मानवीय पदार्थों का बोध होता है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जिन विभिन्न शक्तियों का बोध होता है, यह कल्पना ही उन्हें व्यवस्था में ढालती है, अव्यवस्थित बिखरे बिम्बों को शनैः-शनैः ज्ञान का रूप प्रदान करती है-यह स्वाभाविक और सहज मानवीय गुण है।

(2) **गौण करना-** यह विशिष्ट लोगों में पायी जाती है। सत्यदेव मिश्र ने इसको इस प्रकार प्रस्तुत किया है-"(यह कल्पना) प्रकृति में पदार्थों के पाये जाने वाले अव्यवस्थित स्वरूप को एक निश्चित रूप देने की इस अन्तःशक्ति का अभिप्रेत प्रयोग है। प्रथम यदि रूपकार ढालने की अनभिप्रेय अन्तःशक्ति है तो दूसरी अभिप्रेय अन्तःशक्ति। कहना यह है कि कल्पना प्रारम्भिक कल्पना का ही वह विकसित रूप है, जिसका प्रयोग सर्जक स्वेच्छा से करता है। गौण कल्पना एक संयुक्त आत्मिक ऊर्जा है, जिसमें मनःशक्ति अथवा आत्म-शक्ति के अन्य सभी पहलू प्रत्यक्ष-ज्ञान शक्ति, विचार शक्ति, संकल्प शक्ति, मनोवेग आदि सभी समाहित हो जाते हैं।" उन्होंने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है-

> "It (secondary imagination) is a composite faculty of the soul. Consisting all other faculties, perception, intellect with emotions while the primary imagination uses only the first portion, it employs all."

कल्पना का महत्व- वे कल्पना को ही काव्य का मूलाधार स्वीकार करते हैं, क्योंकि विरोधी गुणों में सामंजस्य वही स्थापित करती है।

> "It is the unifying faculty of imagination that the opposite fources are reconciled."

डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार, "प्रकृति के पुनः सर्जन में भी कल्पना ही सहायक होती है। कलाकार प्रकृति की अनुकृति नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि वह प्रकृति से नहीं जीत सकता। इसलिए वह पुनः सर्जन की ओर बढ़ता है। वह प्रकृति को अधिक सुन्दर रूप में प्रस्तुत करता है। वह बहिर्जगत् से प्राप्त सूत्रों का समावेश कर प्रकृति को अधिक पूर्णरूप प्रदान करता है।" कॉलरिज के अनुसार, "कल्पना की महत्ता तथा क्षमता अपरिमित है, वह कवि का अनिवार्य गुण है और कवि उसका प्रयोग उत्कर्ष के ही क्षणों में करता है।"

"Imagination is a power which the artist can only use when he is at his best."

कल्पना और ललित कल्पना- डॉ. तारकनाथ बाली के अनुसार- कॉलरिज ने दिवास्वप्न में बिम्बों का निर्माण करने वाली शक्ति को कल्पना कहा तथा दोनों में एक प्रकार का अन्तर माना। ललित कल्पना या फैंसी एक ऐसी शक्ति है जो प्रत्ययों का संश्लेषण तो करती है, मगर यह संश्लेषण रचनात्मक नहीं होता, जड़ एवं विश्रृंखल होता है। यह एक प्रकार की शक्ति है, जिसका व्यक्तिगत जीवन में दिवास्वप्न में उपयोग होता है, मगर जो किसी सार्थक आस्वाद्य बिम्ब का निर्माण नहीं कर सकती।

ललित कल्पना के विपरीत कल्पना आत्मा की एक शक्ति है जो दिव्य होने के साथ-साथ सर्जनात्मक है। रचनात्मकता उसका मूल गुण है। कल्पना द्वारा निर्मित बिम्बों में सम्बद्धता होती है, क्रम होता है। सावयविक एकता होती है तथा वे आस्वाद्य होते हैं। इस प्रकार ललित कल्पना एक निम्न स्तर की शक्ति है जो ऐसी स्मृति का रूप है जो रचनात्मक तो नहीं होती, लेकिन आस्वाद्य होती है।

कॉलरिज के कल्पना सिद्धान्त अथवा उसकी कल्पना और ललित कल्पना संबंधी मान्यता को समझने के लिए उनके पूर्ववर्ती आलोचकों की कल्पना संबंधी मान्यता पर विचार कर लेना आवश्यक है। इसके अभाव में कॉलरिज की कल्पना और ललित कल्पना को ठीक समझना संभव नहीं है।

कवि और कल्पना- कवि अथवा साहित्यकार के पास कल्पना ही एक ऐसी शक्ति है, जिसके आधार पर वह सर्वजन मनोहारिणी रचनाएँ प्रस्तुत करता है। कल्पना जगत् ही कवि की वास्तविक दुनिया है। वह कल्पना का आनन्द लेता है और अपनी कल्पना के इन्द्रजाल से दूसरों को भी आनन्द के सागर में डुबकियाँ लगाने के लिए विवश कर देता है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कवि की प्रतिभा अथवा इन्द्रजाली शक्ति के लिए कॉलरिज से पहले दो शब्दों का प्रयोग किया जा रहा था। वे शब्द हैं- इमेजिनेशन और फैन्सी। ड्राइडन ने इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची माना है और दोनों का प्रयोग कल्पना के अर्थ में किया है। ड्राइडन सोलहवीं शताब्दी में हुए थे। इमेजीनेशन को हम कल्पना और फैन्सी को ललित कल्पना कह सकते हैं, क्योंकि फैन्सी शब्द का अर्थ सुन्दर, आकर्षक अथवा ललित है।

सत्रहवीं शताब्दी में फैन्सी अर्थात् ललित कल्पना और इमेजीनेशन अर्थात कल्पना का अन्तर स्पष्ट होने लगा था। सत्रहवीं शताब्दी के काव्यशास्त्रियों अथवा समीक्षकों ने ललित कल्पना की अपेक्षा कल्पना को विशेष मान लिया था। इन दोनों शब्दों इमेजीनेशन अर्थात् कल्पना और फैन्सी अर्थात् ललित कल्पना के मध्य विभाजन रेखा खींचने अथवा दोनों का अन्तर स्पष्ट करने का श्रेय कॉलरिज को है। यह बात अलग हैं कि कॉलरिज ने कल्पना को प्राइमरी इमेजीनेशन और ललित कल्पना को सैकेण्डरी इमेजीनेशन नाम दिया है।

डॉ. भगीरथ द्विवेदी ने स्वीकार किया है कि कॉलरिज ने कल्पना की विस्तृत व्याख्या की है। उन्होंने कॉलरिज द्वारा मान्य दोनों प्रकार की कल्पनाओं का परिचय देते हुए लिखा है-

"कल्पना की दो कोटियाँ होती हैं-प्राथमिक और विशिष्ट। प्राथमिक कल्पना को मैं जीवन्त शक्ति और सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का मूल हेतु मानता हूँ। विशिष्ट कोटि की कल्पना इस प्राथमिक कल्पना की प्रतिनिधि होती है। इसका अस्तित्व सजग इच्छा के अस्तित्व के

साथ ही रहता है। इन दोनों कल्पनाओं में प्रकार भेद नहीं, केवल कोटि भेद रहता है। दोनों की कार्य पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।"

यह कॉलरिज के निम्नलिखित कथन का शब्दशः अनुवाद है—

1. Imagination, then, I consider either as primary or secondary. The primary imagination I hold to be the living power and prime agent of all human preceptions. The secondary imagination I consider as an echo of the former, co-existing with the conscious will, yet still as identical with the primary in the kind of its agency, and differing only in degree, and in the model of its operation. 2. Sense data. 3. Collection. 4. Socondary Imagination.

इसके बाद डॉ. भागीरथ दीक्षित ने इन दोनों कल्पनाओं को अपनी ओर से समझाते हुए लिखा है-

"तात्पर्य यह है कि प्राथमिक कल्पना के द्वारा हमें वस्तुओं का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त होता है। यह सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का मूल हेतु है। यदि यह शक्ति मनुष्य में न रहती तो उसे व्यवस्थित ज्ञान न होता। हमें इन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं का जो कुछ बोध होता है, उसे यही शक्ति एक व्यवस्था में ढालती रहती है। अन्यथा हमारे मानस में वस्तुओं के इन्द्रिय ग्राह्य बिम्बों का संग्रह मात्र उपलब्ध होता। यह प्राथमिक कल्पना उन सभी बिम्बों को एक-एक करके हमारे अव्यवस्थित बोध को ज्ञान में बदल देती है।.....यह प्राथमिक कल्पना एक महान् व्यवस्थापित सिद्धान्त है। इसी के द्वारा हम ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह अव्यवस्थित इन्द्रिय बोधों को व्यवस्थित करती है, इसलिए हम कह सकते हैं कि यदि अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना ही सृजन है तो निस्सन्देह यही प्राथमिक कल्पना मूलतः रचनात्मिका है। यह कल्पना प्रत्येक मनुष्य में होती है, इसलिए इस अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति में सृजनात्मिका शक्ति होती है। यह शक्ति हमारी इच्छा की सजगता के बिना ही कार्य करती है। अर्थात् यह एक स्वतंत्र और सहज मानसिक क्रिया है.....विशिष्ट कल्पना उस प्राथमिक कल्पनाशक्ति का सजग मानवीय प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि जब हम अपनी इच्छा से प्राथमिक कल्पनाशक्ति का प्रयोग करते हैं तो उस अवसर पर उसका जो रूप हो जाता है, उसे विशिष्ट कल्पना कहते हैं।.....जब हम व्यवस्थापिका शक्ति का प्रयोग अपनी इच्छा से करते हैं, उस समय इसका मूल तो बना रहता है, किन्तु इसकी कार्य-पद्धति में भेद हो जाने के कारण इसकी कोटि बदल जाती है। कार्य-पद्धति में भेद इसीलिए हो जाता है कि एक सहज रूप में काम करती है और दूसरी सजग रूप में अर्थात् हमारी इच्छा के अनुसार।"

कॉलरिज की मान्यता के अनुसार कवि, चित्रकार, दार्शनिक आदि इसी विशिष्ट कल्पना शक्ति अथवा सेकण्डरी इमेजीनेशन का प्रयोग करते हैं।

कल्पना और ललित कल्पना ज्येष्ठता कनिष्ठता- यदि कॉलरिज की मान्यता से विहीन व्यक्ति से पूछा जाये तो साधारण कल्पना और कवि आदि की कल्पना में कौन श्रेष्ठ है, तो सभी का उत्तर होगा कि कवि, चित्रकार की कल्पना अर्थात् सेकण्ड अथवा विशिष्ट कल्पना शक्ति श्रेष्ठ है। कॉलरिज की मान्यता इसके विपरीत है। उसने सामान्य अथवा प्राथमिक कल्पना शक्ति को श्रेष्ठ और विशिष्ट अथवा सेकण्डरी कल्पना को कनिष्ठ अथवा हीन माना है।

डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त ने कॉलरिज को तत्त्ववेत्ता मानते हुए उसकी प्राथमिक कल्पना को ब्रह्म कल्पना नाम देते हुए लिखा है-

"कॉलरिज ने कल्पना के दो प्रकार माने हैं- आद्य या मुख्य या प्राथमिक कल्पना और गौण या विशिष्ट कल्पना। कॉलरिज ब्रह्मवादियों के समान आत्मा एवं जगत् को एक ही सत्ता के दो रूप मानता है, पर जहाँ ब्रह्मवादी आत्मा और जगत् के भिन्न-भिन्न प्रतीत होने का कारण माया बताते हैं, वहीं कॉलरिज उसका कारण मुख्य कल्पना मानता है। इसी के कारण एक ही चेतना खण्ड-खण्ड रूप में दिखाई देती है। यह मानव मन में मानसिक बिम्ब को प्रस्तुत करती है। यह समस्त मानव जाति की एक अपूर्व शक्ति है और सम्पूर्ण मानव प्रत्यक्षीकरण का मुख्य माध्यम है।"

इमेजीनेशन, कल्पना अथवा प्रथम कल्पना अथवा आद्य कल्पना को कॉलरिज ने विशिष्ट कल्पना, फैन्सी अथवा सेकण्ड इमेजीनेशन से कनिष्ठ अथवा हीन माना। कॉलरिज की दृष्टि में प्रथम कल्पना अथवा इमेजीनेशन का ही महत्त्व सबसे अधिक है। विशिष्ट कल्पना, ललित कल्पना अथवा फैन्सी अथवा सेकेण्डरी इमेजीनेशन उसकी प्रतिध्वनि है। ललित कल्पना के विपरीत कल्पना आत्मा की एक शक्ति है, जो दिव्य होने के साथ-साथ सृजनात्मक है। रचनात्मकता इसका मूल गुण है, इसलिए विवेक का ज्ञान तो कल्पना का अनिवार्य तथा अन्तरंग गुण है। कल्पना द्वारा निर्मित बिम्बों में सम्बद्धता होती है, क्रम होता है, सावयविक एकता होती है तथा वे आस्वाद्य होते हैं अर्थात् उनका आस्वादन किया जा सकता है। इस प्रकार ललित कल्पना निम्न स्तर की शक्ति है जो ऐसी स्थिति का रूप है जो रचनात्मक नहीं होती है। कॉलरिज के बाद आलोचना में ललित कल्पना के स्वरूप एवं कार्य आदि के विषय में कोई सन्देह नहीं रहा।

विशिष्ट कल्पना कलाकारों में पाई जाती है। इसी को ललित कल्पना कहा गया है। यह प्राथमिक या आद्य कल्पना की प्रतिध्वनि होती है। इस आधार पर इस ललित कल्पना का निकृष्ट अथवा आद्य कल्पना से हीन माना गया है। इसका प्रयोग सजग होकर अथवा सायास किया जाता है। इस प्रकार यह मानवीय कल्पना हुई। यह दैवी कल्पना अथवा ब्रह्म कल्पना से हीन समझी ही जायेगी। आद्य कल्पना ही दैवी अथवा ब्रह्म कल्पना है। ललित कल्पना कलाकार इस ब्रह्म संसार को अधिक पूर्ण रूप में प्रस्तुत करता है। वास्तविक जगत् में मधुर, तिक्त आदि छः रस होते हैं, पर कविता में श्रृंगार, वीर आदि नौ रस होते हैं। इसी आधार पर किसी ने कवित को ब्रह्म से श्रेष्ठ बताते हुए कहा है-

विधि सौ कवि सब विधि बड़े, यामे संशय नाहिं।
छः रस विधि भी सृष्टि में, नौ रस कविता माहिं॥

ललित कल्पना अनेक विषयों में एकरूपता लाती है, विषय और विषयी का समन्वय करती है, भिन्न-भिन्न बिम्बों को व्यवस्थित करती है। प्राथमिक कल्पना का प्रयोग सहज रूप में दोनों को व्यवस्थित करता है, विशिष्ट कल्पना अथवा ललित कल्पना का प्रयोग सजग होकर किया जाता है। इसका प्रयोग अपनी इच्छा होता है। जर्मन विद्वान् काण्ट कल्पना को काव्य रचना का गुण नहीं मानता है। इस दृष्टि से कॉलरिज की कल्पना संबंधी मान्यता काण्ट से भिन्न है। कॉलरिज के विचार हार्टले से भी मेल नहीं खाते हैं। हार्टले कल्पना को निष्क्रिय शक्ति मानता है, जबकि कॉलरिज के अनुसार कल्पना सक्रिय शक्ति है।

स्पष्ट रूप से कल्पना और ललित कल्पना को इस प्रकार समझाया जा सकता है-

कल्पना- कॉलरिज के अनुसार कल्पना, प्राथमिक कल्पना अथवा इमेजीनेशन जीवन शक्ति है। यही सम्पूर्ण मानव ज्ञान का मूल कारण है। इसी कल्पना के आधार पर मनुष्य ज्ञान करने में समर्थ होता है। यह प्राथमिक कल्पना एक महान् व्यवस्थापिका सिद्धान्त है। इसी के द्वारा हम ज्ञान

प्राप्त करते हैं। यह अव्यवस्थित, इन्द्रियबोधों को व्यवस्थित करती है। यदि अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करने का नाम ही सृजन है तो बिना किसी सन्देह के यह प्राथमिक कल्पना ही मूल रूप से रचना करने वाली है। यह कल्पना प्रत्येक मनुष्य में होती है। इसी कारण इस अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति में सृजनात्मक शक्ति भी मानी जाती है। यह शक्ति हमारी इच्छा की सजगता के अभाव में भी काम करती है। इसे एक सहज और स्वतंत्र मानसिक क्रिया माना जा सकता है।

ललित कल्पना- इसे फैन्सी, सैकण्डरी इमेजीनेशन, ललित कल्पना, विशिष्ट कल्पना आदि अनेक नाम दिये गये हैं। विशिष्ट कल्पना इस प्राथमिक कल्पना शक्ति का सजग मानवीय प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि जब हम अपनी इच्छा से प्राथमिक कल्पना शक्ति का प्रयोग करते हैं तो उस अवसर पर उसका जो रूप होता है, उसे विशिष्ट कल्पना कहा जाता है। प्राथमिक कल्पना व्यवस्थित इन्द्रियबोधों को व्यवस्थित करती है, किन्तु ऐसा वह हमारी इच्छा के कारण नहीं करती, अपितु वह सहज रूप से ऐसा करती है। जब हम इस व्यवस्थापिका शक्ति का प्रयोग अपनी इच्छा से करते हैं, उस समय इसका मूल रूप तो बना रहता है, किन्तु इसकी कार्य-पद्धति में भेद हो जाने के कारण इसकी कोटि बदल जाती है। इसकी कार्य-पद्धति में भेद इसलिए हो जाता है कि एक सहज रूप से काम करती है और दूसरी सजग रूप से अर्थात् हमारी इच्छा के अनुसार। इस विशिष्ट अथवा ललित कल्पना शक्ति का प्रयोग चित्रकार, दार्शनिक, कवि आदि करते हैं। अपने व्यापक अर्थ में यह एक सजग मानसिक सर्जन क्रिया है। शंका हो सकती है कि जब चित्रकार, दार्शनिक, कवि और इतिहासकार सभी इसी विशिष्ट अथवा ललित कल्पना-शक्ति के द्वारा सृजन करते हैं तो फिर उनकी कृतियों में अन्तर क्यों और किस कारण होता है?

कवि, चित्रकार, दार्शनिक आदि सभी ललित अथवा विशिष्ट कल्पना शक्ति का प्रयोग करते हैं। ये सभी विशिष्ट-कल्पना शक्ति के द्वारा हीं अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। ये सभी अपनी अभिव्यक्ति में भाषा अथवा रंगों को प्रयोग करते हैं। इस अर्थ में सबके माध्यम एक समान हैं। छन्दबद्ध होने के कारण दार्शनिक और इतिहास ग्रन्थ काव्य नहीं कहे जा सकते और न छन्द रहित होने के कारण कोई रचना काव्य जगत् से बहिष्कृत की जा सकती है। काव्य और अकाव्य का अन्तर छन्द नहीं हो सकते। कॉलरिज ने कविता तथा कल्पना की अन्य विधियों में अन्तर स्पष्ट करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है-

> *"किसी भी भाषा सृष्टि का कोई न कोई उद्देश्य होता है। दार्शनिक, इतिहासकार, उपदेशक, वैज्ञानिक और कवि विभिन्न उद्देश्यों को लेकर अपनी-अपनी कृतियों की सर्जना करते हैं। इनकी कृतियों में अन्तर समझने के लिए उनके उद्देश्य भेद को जान लेना आवश्यक है।"*

इस प्रकार स्पष्ट है कि छन्दोबद्ध और छन्दरहित होने को ही यदि कोई विभिन्न भाषात्मक कृतियों में अन्तर को एक आधार स्वीकार करें तो कॉलरिज को कोई आपत्ति नहीं है। कॉलरिज तो उद्देश्य और विषयवस्तु के अन्तर को ही विभिन्न कृतियों की विभिन्नता का कारण मानते हैं। तात्पर्य यह है कि उद्देश्य और विषयवस्तु में भेद होने से कृतियों में अन्तर आ जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दर्शन, इतिहास, उपदेश, विज्ञान और के ग्रन्थ एवं कार्यों दो रूपों में समानता होती है। पहली समानता यह है कि ये सभी विशिष्ट कल्पना की उपज होती हैं। इनमें दूसरी समानता यह है कि ये सभी भाषा का प्रयोग करते हैं। इनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए इनमें अन्तर आ जाता है। कॉलरिज ने पहले उद्देश्य की व्याख्या की। उसके आधार पर बाद में इन कृतियों का अन्तर स्पष्ट किया।

कॉलरिज की कल्पना संबंधी मान्यता बाद में अंग्रेजी के आलोचकों को मान्य रही, पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कॉलरिज की यह व्याख्या और मान्यता अस्पष्ट तथा उलझी हुई है।

इकाई-तीन

मैथ्यू आर्नोल्ड को अंग्रेजी आलोचना का प्रवर्तक माना जा सकता है। वैसे मैथ्यू आर्नोल्ड ने अपना साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरम्भ किया था। उनके विषय में कहा जाता है कि ये स्वभाव और कर्म दोनों से आलोचक पहले थे और कवि बाद में। तात्पर्य यह है कि मैथ्यू आर्नोल्ड के व्यक्तित्व में आलोचक रूप की प्रधानता थी।

साहित्य: जीवन की आलोचना- मैथ्यू आर्नोल्ड का विश्वास था कि साहित्य और साहित्य की समस्याएँ मानव जीवन की समस्याओं से पृथक् नहीं होतीं। इस दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन जीवन के सन्दर्भ में ही करना चाहिए। साहित्य का मूल्यांकन जीवन के सन्दर्भ में ही होना उचित है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने कहा है- "साहित्य जीवन की आलोचना है।" आर्नोल्ड की दृष्टि में जीवन का महत्त्व होने के कारण लोकमंगल का स्थान सर्वोच्च था। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि लोकमंगल और संस्कृति का विकास साहित्य की कसौटी के साथ-साथ साहित्य का आदर्श भी है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने आलोचना और आलोचक के विषय में जो कुछ कहा है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

मैथ्यू आर्नोल्ड की दृष्टि से आलोचक और आलोचना- यह सर्वमान्य तथ्य है कि आर्नोल्ड आलोचक पहले थे और कवि बाद में। तात्पर्य यह है कि उनके व्यक्तित्व में कवि की अपेक्षा आलोचक रूप प्रधान था। डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त के अनुसार मैथ्यू आर्नोल्ड ने आलोचक तथा समाज, आलोचक तथा रचना के परस्पर संबंधों के विषय में अत्यन्त मूल्यवान विचार प्रस्तुत किये हैं, जिन्होंने अंग्रेजी जाति के मस्तिष्क को बहुत समय तक प्रभावित किया, वे उनकी सबसे बड़ी देन माने जाते हैं। आर्नोल्ड समीक्षा कार्य को सर्जनात्मक शक्ति का कार्य मानते थे और कहते थे-"समीक्षा के बिना उत्कृष्ट कवि का निर्माण नहीं हो सकता, क्योंकि युग को पहचानने के लिए समीक्षा शक्ति आवश्यक है। जीवन और जगत को विशद रूप में जानने की आवश्यकता है।" मैथ्यू आर्नोल्ड ने बताया कि आलोचक का समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है? आलोचक में कौन-कौन से गुण होने चाहिए। उसे किन सिद्धान्तों के आधार पर श्रेष्ठतम कविताएँ चुनकर उनका प्रसार करना चाहिए।

मैथ्यू आर्नोल्ड के मत में रचनात्मक साहित्य जीवन की आलोचना है। उन्होंने आलोचक के रूप में अपना यह धर्म समझा कि वह इस जीवन की आलोचना को बाहर समाज में लायें तथा उसका संबंध सम्पूर्ण संस्कृति से स्थापित करें। आर्नोल्ड के मतानुसार आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह संसार के सर्वोच्च ज्ञान तथा सर्वोत्तम विचारों को जाने, उस पर विचार करे तथा उनका सर्वत्र प्रचार-प्रसार करे। इससे सच्ची और नवीन भावनाओं की धारा प्रवाहित हो सके। ऐसा करके ही वह साहित्य का संबंध संस्कृति से स्थापित कर सकता है।

मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार आलोचक में निम्नलिखित तीन गुण होने चाहिए-

(1) आलोचक पढ़े, समझे और वस्तुओं का यथार्थ रूप देखे।

(2) जो कुछ आलोचक ने सीखा है, उसे वह दूसरों को हस्तान्तरित करे, जिससे उत्तम भावनाएँ सभी जगह प्रबलता प्राप्त करें तथा संसार बदल सके। उसका अर्थात् आलोचक का कार्य धर्म-प्रचारक जैसा उत्साहपूर्ण और कर्मठतायुक्त होना चाहिए।

(3) आलोचक रचनात्मक शक्ति की क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करे, जिससे अवसर और अनुकूल समय मिलते ही साहित्यकार उसमें सृजनात्मक साहित्य की लहलहाती फसल पैदा कर सके और उससे संसार का पोषण कर सके। ऐसा करके आलोचक समाज को पूर्णता की ओर ले जा सकेगा, उसे सिखा सकेगा कि किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस प्रकार आलोचक संस्कृति के विकास में योगदान कर सकेगा। मैथ्यू आर्नोल्ड ने अपने निबन्ध 'कल्चर एण्ड एनार्की' में इसी पहलू पर बल दिया है, जिसके कारण इलियट ने इसके विषय में कहा है-"या तो वह अर्थात् मैथ्यू आर्नोल्ड प्रोपेगेण्डा करने वाला अर्थात् प्रचारक था। वह आलोचक की अपेक्षा आलोचना का पिता था।" दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि टी.एस. एलियट ने मैथ्यू आर्नोल्ड को आलोचक की अपेक्षा आलोचना का प्रचारक अधिक माना है। सैण्ट (सन्त) व्यव ने आलोचक में जिज्ञासा भाव की प्रधानता स्वीकार की है तथा कहा है-"आलोचक को चाहिए कि वह वस्तुस्थिति को देखे।" मैथ्यू आर्नोल्ड ने इसे पर्याप्त नहीं समझा। मैथ्यू आर्नोल्ड के मतानुसार आलोचक के लिए संस्कृति का नैतिक पक्ष भी होता है। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह उसका संवर्धन करे, केवल ज्ञान के द्वारा नहीं, अपितु समाज-कल्याण के नैतिक तथा सामाजिक भाव के द्वारा। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह सत्य की प्रतिष्ठा करे और उसे पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचाने वाले विचारों का प्रचार करे। जीवन में जो कुछ उदात्त और स्थायी है, उसे अनुदात्त अर्थात् निकृष्ट और अस्थायी से अलंकार के जीवन की पूर्णता का बोध कराये। यह तभी हो सकता है, जब समीक्षक अर्थात् आलोचक में विराट सामाजिक चेतना, विवेक एवं उदार धार्मिक दृष्टिकोण हो।

आलोचक की निष्पक्षता- मैथ्यू आर्नोल्ड ने आलोचना को निष्पक्ष होना आवश्यक स्वीकार किया है। यह शब्द निष्पक्ष, परम्परागत तथा प्रचलित अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने आलोचक को निष्पक्ष होने का तात्पर्य आलोचक की निरपेक्ष दृष्टि, पूर्वाग्रहविहीनता तथा तटस्थ होकर रचना का विवेचन करने वाला माना है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने निष्पक्ष शब्द को संकुचित तथा अपने मन के अनुकूल और अपने विचारों के अनुरूप अर्थ प्रदान किया है। जब मैथ्यू आर्नोल्ड कहते हैं कि आलोचक को निष्पक्ष होना चाहिए, तब इसका अर्थ होता है कि आलोचक उन बातों से मुक्त हो जो बौद्धिक तथा नैतिक पूर्णता के मार्ग में बाधक होती हैं। आलोचक का निर्णय असभ्य और अभिजात्य दोनों के पूर्वाग्रहों से मुक्त होना चाहिए, क्योंकि गम्भीर विचार तथा ज्ञान का आलोक उसकी पहुँच से बाहर होते हैं। इसी प्रकार आलोचक को साधारण जनसमूह की अंधी भावमयता से भी मुक्त होना चाहिए। आलोचक को सन्तोषी मध्यम वर्ग के झूठे विचारों से भी बचना चाहिए। इस वर्ग के लोग रूढ़िवादिता, धर्मान्धता, व्यापार, धनार्जन तथा विलास में लिप्त रहने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते। आलोचक के निष्पक्ष रहने का अर्थ है-असत्य तथा अर्द्धसत्य से दूर रहना। उसे उन चीजों से अलग रहना चाहिए जो नगरों के यान्त्रिक जीवन से संबंधित होती हैं तथा आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना करती हैं।

आर्नोल्ड की दृष्टि में निष्पक्ष आलोचक- मैथ्यू आर्नोल्ड की दृष्टि में निष्पक्ष आलोचक वह है कि जो सांस्कृतिक पूर्णता के प्रति उन्मुख रहता है और जीवन की भद्दी तथा सामान्य रुचियों से प्रभावित नहीं होता है। स्पष्ट है कि कलाकार तथा आलोचक के निष्पक्ष होने का जो अर्थ मैथ्यू आर्नोल्ड ने लगाया है, वह उनका अपना अर्थ है। निष्पक्ष शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, जिस

अर्थ में आजकल प्रयोग किया जाता है। आज कलाकार के सन्दर्भ में निष्पक्ष शब्द का अर्थ है-कला, कला के लिए सिद्धान्त को मानने वाला अर्थात् ऐसा कलाकार जिसका लक्ष्य अनुभूति प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य कुछ न हो। आलोचक के सन्दर्भ में निष्पक्ष होने का अभिप्राय यह है कि आलोचक स्वतंत्र तथा निरपेक्ष दृष्टि से आलोचना करे। आलोचक कलाकार के दृष्टिकोण को समझकर उसकी कृति की आलोचना करे।

आर्नोल्ड और निष्पक्ष शब्द- आर्नोल्ड ने निष्पक्ष शब्द का प्रयोग इन अर्थों में नहीं किया है। उन्होंने नैतिक और सामाजिक पूर्णता की बात कहकर आलोचक पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। इस प्रतिबन्ध के कारण आलोचक पूर्वाग्रह मुक्त हो सकता है। यह पूर्वाग्रह आलोचक की विवेक शक्ति तथा धारणा शक्ति पर धुंध डालकर उसकी आलोचना को विकृत कर सकता है। स्वयं आर्नोल्ड भी इसी कारण कभी-कभी बहक गये हैं। इससे उनकी आलोचना दोषपूर्ण तथा पूर्वाग्रह युक्त हो गयी है। बर्न्स तथा कीट्स ने मैथ्यू आर्नोल्ड की जो आलोचना की है। उसे इसके प्रमाण के रूप में देखा जा सकता है।

कवि ने लिए भूमि तैयार करना आलोचक का कर्त्तव्य- मैथ्यू आर्नोल्ड की यह भी मान्यता है कि आलोचक का कर्त्तव्य कवि के लिए भूमि तैयार करना है। इस सन्दर्भ में मैथ्यू आर्नोल्ड ने आलोचक की तुलना जान-वि-बैप्टिस्ट से करते हुए कहा है-

> *"सृजनात्मक साहित्य जिन तत्त्वों पर आधारित होता है, वे हैं-विचार, वे विचार जो अपने समाज के सर्वश्रेष्ठ विचार होते हैं और इन तत्त्वों को, इन पौष्टिक विचारों को आलोचक ही कवि को प्रदान करता है। कवि का कार्य तो केवल आलोचक द्वारा खोजे गये तथा प्रतिपादित किये गये विचारों का संश्लेषण करना है।"*

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मैथ्यू आर्नोल्ड का यह मत उचित है कि शक्तिशाली आलोचक सृजनात्मक साहित्य हेत उपजाऊ भूमि तैयार करता है, विचारों का अनुसंधान करके उनका प्रतिपादन करता है, पर यह कार्य केवल वही नहीं करता। वास्तव में आर्नोल्ड ने आलोचक को आवश्यकता से अधिक महत्त्व तथा श्रेय प्रदान किया है। यह सत्य है कि महान् आलोचक भौतिक जीवन की यान्त्रिकता से मुक्त रहता है, ज्ञान के लिए ज्ञान का अर्जन करता है, विचारों को उनके माधुर्य और आलोक के कारण चाहता है, सर्वश्रेष्ठ विचारों का प्रचार करता है, जीवन में उन विचारों को रूपान्तरित करने का प्रयत्न करता है तथा अपने विचारों और ज्ञान को संसार तक पहुँचाता है। इतना होने पर भी आलोचक को इतना महत्त्व नहीं देना चाहिए, जितना मैथ्यू आर्नोल्ड ने दिया है।

साहित्य में आलोचना का महत्त्व- डॉ. भगीरक्ष दीक्षित ने मैथ्यू आर्नोल्ड के प्रसंग में आलोचना का साहित्य में महत्त्व रेखांकित करते हुए लिखा है-

> *"आलोचना साहितय की रचना करने वालों को खलती है, यह एक सत्य बात है, तथ्य है। हिन्दी के एक लब्ध प्रतिष्ठ तथा मानव जीवन की परख करने वाले साहित्यकार ने एक बार मुझसे कहा था कि मैं प्रोफेसरों से बहुत घबराता हूँ। उनका घबराना प्रोफेसरों द्वारा की गयी समीक्षा अथवा आलोचना के कारण ही था। मैथ्यू आर्नोल्ड के समय में भी कुछ लोगों को इसी प्रकार की घबराहट थी। उन्होंने वर्ड्सवर्थ के समान ही समीक्षात्मक प्रवृत्ति पर अपना आक्रोश व्यक्त भी किया। इसलिए मैथ्यू आर्नोल्ड ने सर्वप्रथम समीक्षा के महत्त्व का ही प्रतिपादन करना उचित समझा। मैथ्यू आर्नोल्ड ने सन् 1865 ई. में 'द फंक्शन आफ क्रिटिसिज्म एट द प्रेजेण्ट टाइम' (आधुनिक युग में समीक्षा का कार्य) शीर्षक लेख प्रकाशित किया। इसमें मैथ्यू आर्नोल्ड ने रचनात्मिकता अथवा कारयित्री शक्ति तथा समीक्षात्मक शक्ति की विवेचना करते हुए समीक्षात्मक शक्ति की अनिवार्यता और उपादेयता पर प्रकाश डाला।"*

मैथ्यू आर्नोल्ड ने लिखा है-

"यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि सर्जनात्मक शक्ति का उपयोग करना मनुष्य का वास्तविक कार्य है। इसका प्रमाण यह है कि सृजनात्मक कार्य में मनुष्य को सच्चा आनन्द मिलता है, किन्तु साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि साहित्य या कला की उत्कृष्ट सर्जना के अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी इस स्वतंत्र रचनात्मिकता शक्ति का उपयोग किया जाता है। यदि ऐसा न होता तो अधिकांश व्यक्ति सच्चे आनन्द से वंचित रह जाते। मनुष्य इस शक्ति का उपयोग हितसाधना, ज्ञानार्जन करने तथा समीक्षा करने में भी कर सकता है। इसलिए यह कहना गलत है कि समीक्षा कार्य सर्जनात्मक शक्ति का कार्य नहीं।"

इस विषय में स्मरण रखने दूसरी बात यह है कि समीक्षा अथवा आलोचना के अभाव में सर्जनात्मक शक्ति उत्कृष्ट कृति का निर्माण नहीं कर सकती। जिस युग के साहित्य में उत्कृष्ट कोटि की आलोचना का अभाव होता है, उसमें मूल्यवान रचनाओं का भी सर्वथा अभाव रहेगा। उत्कृष्ट साहित्य के निर्माण हेतु उत्कृष्ट समीक्षा का होना आवश्यक है। समीक्षा अथवा आलोचना ही साहित्यकार को वस्तु प्रदान करती है। साहित्य का संबंध युग के सर्वोत्तम विचारों तथा अनुभूतियों से होता है।

प्रकार्य अथवा कारयित्री प्रतिभा- साहित्य में दो प्रकार की प्रतिभा कार्य करती है-कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा। कारयित्री प्रतिभ का कार्य साहित्य की रचना करना है और भावयित्री प्रतिभा का कार्य काव्य को समझना और उसकी आलोचना अथवा समीक्षा करना है। संस्कृत साहित्य में प्रचलित निम्नलिखित उक्ति इन दोनों का अन्तर और कार्य स्पष्ट करती है-

'कविः करोति काव्यानि अर्थं जानाति पण्डितः।'

(कवि काव्यों की रचना करता है पर उसका अर्थ अर्थात् महत्त्व पण्डित अर्थात् आलोचक जानता है।)

इसमें कारयित्री प्रतिभा अथवा प्रकार्य को प्रथम स्थान दिया गया है। यदि प्रकार्य नहीं होगा, यदि कारयित्री प्रतिभा नहीं होगी तो पण्डित अथवा आलोचक किसकी आलोचना करेंगे, किसका अर्थ जानेंगे?

मैथ्यू आर्नोल्ड ने भी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं के अन्तर और महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है-

"किसी युग की वास्तविकता को पकड़ना, मनुष्य की कारयित्री प्रतिभा का काम नहीं है। यह काम मनुष्य की समीक्षात्मक शक्ति का है। धर्मशास्त्र, दर्शन, इतिहास, कला, विज्ञान आदि ज्ञान की सभी शाखाओं में वस्तु को 'जैसी वह स्वयं में है' उस रूप में देखना समीक्षात्मक शक्ति का ही काम है। इस प्रकार यह शक्ति एक ऐसी बौद्धिक परिस्थिति का निर्माण कर देती है, जिसका उपयोग करके कारयित्री शक्ति अर्थात् साहित्य सर्जन की शक्ति अपना कार्य करती है।"

मैथ्यू आर्नोल्ड की इस मान्यता से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि भावयित्री शक्ति अथवा समीक्षात्मक शक्ति ऐसी बौद्धिक परिस्थितियों का निर्माण करती है, जिनका प्रयोग कारयित्री प्रतिभा करती है। कारयित्री प्रतिभा अर्थात् रचनाकार आलोचक का आलोचना का क्षेत्र और सामग्री प्रस्तुत करता है। भाषा पहले विकसित होती है, व्याकरण उसकी व्यवस्था के लिए बाद में आता है। आबादी अथवा बस्ती पहले बसती है, उसकी व्यवस्था के लिए ग्राम पंचायत अथवा नगरपालिका का विकास बाद में होता है। इसी प्रकार काव्य रचना पहले होती है, समीक्षा बाद में आकार ग्रहण करती है। संस्कृत साहित्य में 'रामायण' और 'महाभारत' का तथा कालिदास आदि महाकवियों के साहित्य का निर्माण हुआ। समीक्षाशास्त्र के ग्रन्थों का और समीक्षाओं की अवतारणा इन्हीं के आधार पर इसके

बाद हुई। हिन्दी में भी आदिकाल और भक्तिकाल में काव्य रचना होती रही, समीक्षा ग्रन्थों का क्रम रीतिकाल में आरम्भ हुआ।

कारयित्री और भावयित्री शक्ति का एकत्र संगम- यह भी सम्भव है कि प्रकार्य अर्थात् कारयित्री प्रतिभा के साथ-साथ एक ही व्यक्ति में भावयित्री प्रतिभा भी हो। एक ही व्यक्ति रचनाकार और समीक्षक दोनों हो। संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ऐसे प्रतिभाशाली साहित्यकार हुए हैं, जिनमें दोनों प्रकार की शक्तियाँ थीं।

इसी आधार पर डॉ. भगीरथ दीक्षित ने लिखा है-"मेरे मत में आर्नोल्ड के उपर्युक्त कथन का आशय यही है कि साहित्य-सृष्टि के लिए साहित्यकार में दोनों शक्तियाँ होनी चाहिए। उसमें सर्जन कौशल और दर्शन शक्ति दोनों का होना आवश्यक है। इनमें दर्शन शक्ति मुख्य है, यही समीक्षा (आलोचना) शक्ति है। चाहे वह शक्ति स्वयं साहित्यकार में हो अथवा किसी अन्य समीक्षक (आलोचक) द्वारा युगजीवन की वास्तविकता का उसे बोध कराया जाय।"

डॉ. भागीरथ दीक्षित और मैथ्यू आर्नोल्ड दोनों का यह विचार और मान्यता स्वीकार करने योग्य नहीं है कि साहित्यकार में सर्जन और दर्शन दोनों शक्तियाँ होनी चाहिए। कविता अथवा साहित्य का उद्गम् हृदय की प्रतिक्रिया से होता है। आदि कवि वाल्मीकि समीक्षक या आलोचक नहीं थे। उन्होंने अपने साथी क्रौंच पक्षी की मृत्यु पर क्रौंची को विलाप करते देखा तो उनके मुख से सहसा छन्दोबद्ध उद्गार निकल पड़े-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

(हे निषाद! तुम अनेक वर्षों तक प्रतिष्ठा को प्राप्त न करो। तुमने क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से काममोहित एक अर्थात् नर पक्षी को मार डाला।)

सुमित्रानन्दन पन्त ने भी काव्य रचना के लिए भावयित्री प्रतिभा को नहीं, अपितु हृदय की संवेदना को कारण माना है-

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा।
उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥

मैथ्यू आर्नोल्ड की इस मान्यता से सहमत हुआ जा सकता है कि यदि यह समीक्षा शक्ति स्वयं साहित्यकार में है तब वह अत्यन्त उत्कृष्ट कृति का निर्माण करने में समर्थ हो सकता है। इस विषय में आर्नोल्ड के कथन का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है-

"साहित्य सर्जना के पूर्व ही प्रत्येक कवि को जीवन और जगत् का ज्ञान होना चाहिए। आज का जीवन और जगत् अधिक जटिल है। अस्तु, उत्कृष्ट साहित्यिक सृष्टि के लिए अत्यधिक समीक्षात्मक (आलोचनात्मक) प्रयत्न की अपेक्षा है, अन्यथा वह कृति अत्यन्त तुच्छ और अस्थायी होगी। यही कारण है कि 'बाइरन' की कविता में स्थायित्व नहीं रहा, जबकि गेटे की कविता में बहुत अधिक स्थायित्व है। दोनों में महान् कारयित्री शक्ति थी, परन्तु गेटे में महान् समीक्षात्मक शक्ति थी, वह जीवन और जगत् को बाइरन की अपेक्षा अधिक विशदरूप में जानता था।"

साहित्य निर्माण के लिए अनुकूल समय भी अपेक्षित होता है। प्रत्येक युग में साहित्य निर्माण नहीं हो सकता। प्रत्येक भाषा के साहित्य का इतिहास इसका प्रमाण है। हिन्दी के पूर्व मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल में जिस कोटि की साहित्य सर्जना प्रस्तुत की जा सकी, वह उत्तर मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल में सम्भव नहीं हो सकी।

इलिएट का परम्परावादी सिद्धान्त- स्वच्छन्दतावादी, कवि की प्रतिभा और अन्तःप्रेरणा को ही काव्य-सृजन का मूल्य मानकर, प्रतिभा को दैवी गुण स्वीकार करते थे। इसे ही वैयक्तिक काव्य-सिद्धान्त कहा गया। इस मान्यता को इलिएट ने अपने निबन्ध 'परम्परा एवं वैयक्तिक प्रज्ञा' में अस्वीकार किया। उसने परम्परा का भी महत्त्व स्वीकार किया और कहा-परम्परा के अभाव में कवि छाया-मात्र है और उसका कोई अस्तित्व नहीं होता।

परम्परा का अर्थ है- पहले से चली आयी हुई धारणाएँ अथवा मान्यताएँ। इलिएट परम्परावादी था, इसका तात्पर्य यही है कि इलिएट परम्पराओं को मानता था। उसके पूर्ववर्ती आलोचकों और कवियों ने जो विचार प्रकट किये और जो स्थापनाएँ दृढ़ कीं, उन्हें इलिएट मानता था। इलिएट से पूर्व की परम्पराओं को जानने के लिए यह उपाय काम में लाया जा सकता है कि इलिएट पर अपने किन पूर्ववर्ती कवियों और आलोचकों का प्रभाव था।

इलिएट पर प्रभाव- सन् 1928 में इलिएट ने अपने विषय में स्पष्ट किया-"मैं राजनीति में राजतन्त्रवादी, धर्म में एंग्लोकैथोलिक और साहित्य में क्लासिकवादी हूँ।" तो उनके इस कथन की विक्षोभपूर्ण प्रतिक्रिया उभरकर सामने आयी। उनके इस वक्तव्य के आने से पहले लोग समझ रहे थे कि इलिएट फ्रांस के प्रतीकवादियों से प्रभावित है और उनकी कविता निश्चित रूप से स्वछन्दतावादी है। यह घोषणा सुनकर उन्हें आश्चर्य होना स्वाभाविक था। इलिएट ने अपने आपको क्लासिकवादी क्यों कहा? क्लासिक का अर्थ तो परम्परावादी है। क्लासिक तो परम्पराओं को मानने वाला होता है। लोग जानना चाहते थे कि इलिएट का क्लासिकवाद क्या है? इलिएट के काव्य पर किसका प्रभाव है? यह देखने के लिए हमें टी.आई. ह्यूम और एजरा पाउण्ड पर विचार करना होगा।

टी.ई. ह्यूम- टी.ई. ह्यूम से उसके समसामयिक नवयुवक बहुत प्रभावित थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के 15 वर्षों में डार्विन के विकासवाद पर आधारित मान्यताओं का प्रबल विरोध किया गया। विकासवाद के अनुसार यह माना जाता था कि वनस्पति समूह और प्राणी समूह में एक निरन्तरता है। वनस्पति के विकास की क्रमिक श्रृंखला में मनुष्य का विकास हुआ है। नैतिकता और धर्म विकास प्रक्रिया की मानवीय उपलब्धियाँ हैं। इस मान्यता के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व का कोई आधार नहीं है। डार्विन की यह मान्यता थी कि छोटे-मोटे परिवर्तनों के सहारे सृष्टि का विकास होता रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव सृष्टि का विकास आगे भी होगा।

ह्यूम ने इसका विरोध किया। अपने समर्थन में उसने सन् 1913 में अपने लेख 'रोमेण्टिसिज्म और क्लासिज्म' में वायरेस के इस मत का उल्लेख किया कि सृष्टि में प्रत्येक जाति छोटे-मोटे परिवर्तनों के सहारे क्रमिक रूप से नहीं, अपितु सहसा अस्तित्व में आती है। एक बार अस्तित्व में आने पर वह निश्चित रूप से बनी रहती है। इस प्रकार उसने सृष्टि की निरन्तरता के सिद्धान्त को गलत सिद्ध किया। इसमें दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात यह है कि ह्यूम मनुष्य की शक्ति को सीमित मानता है। दूसरी बात परम्परा और व्यवस्था द्वारा मनुष्य में इच्छा उत्पन्न होने की है।

इलियट की समीक्षा विषयक परम्परा पर ह्यूम की इस बात का बहुत प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार मनुष्य निरपेक्ष प्राणी के रूप में जन्म न लेकर किन्हीं माता-पिता की सन्तान होता है, उसी प्रकार साहित्यिक विषयों में भी वह सटकर अलग नहीं रह सकता, वह दूसरों से प्रभावित होता है। साहित्य के क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति का मत लगभग सम्पूर्ण रूप से उसके पूर्ववर्ती साहित्य के इतिहास का मत होता है।

एजरा पाउण्ड- इलियट पर टी.ई. ह्यूम के अतिरिक्त जिस दूसरे साहित्यकार का प्रभाव पड़ा है, वह है एजरा पाउण्ड। एजरा पाउण्ड ने सन् 1913 में अपने एक पत्र में लिखा है-

"कविता को गद्य के समान ही लिखना चाहिए। कविता में घिसे-पिटे वाक्यांश नहीं होने चाहिए। इससे बचने के लिए कवि को वर्णनीय वस्तु को पूर्ण सावधानी के साथ देखना चाहिए तथा उसका सटीक बिम्बात्मक वर्णन करना चाहिए। उसके लिए केवल वस्तुनिष्ठता अभिव्यक्ति आवश्यक है। कविता में ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए जो परिस्थिति विशेष में किसी भावावेगवश वस्तुतः नहीं कहा जाता है।"

स्पष्ट है कि इलियट जिन दो कवियों और विचारकों से प्रभावित था, वे परम्परावादी थे और स्वच्छन्दतावाद तथा विकासवाद के विरोधी थे। इलियट ने स्वयं अपने परम्परावादी होने की बात स्पष्ट रूप से कही है। वे परम्परा को अन्धानुकरण न मानकर साहित्य के प्रभाव के साथ जुड़ना तथा ऐतिहासिक चेतना और उसके ज्ञान को मानते हैं।

इलियट के अनुसार- *"परम्परा अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है। परम्परा को छोड़ देने से हम वर्तमान को भी छोड़ बैठेंगे।"*

"By losing tradition, we lose our held on the present."

परम्परा से तात्पर्य- परम्परा से इलियट का तात्पर्य "उन सभी स्वाभाविक कार्यों, रीति-रिवाजों (धार्मिक कृत्यों से लेकर नवागन्तुक को अभिवादन करने में स्वीकृत तरीकों), तर्कों से है, जो स्थान में रहने वाले एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त-संबंध को व्यक्त करते हैं।"

"Tradition involves all those habitual actions, habits and customs from the most religious to our conventional ways of greeting stranger, which represents the flood kinship of the same people living in the same place."

परम्परा गत्यात्मक- इलियट परम्परा का महत्वपूर्ण तत्व इतिहास-बोध मानते हैं। परम्परा से उनका तात्पर्य अन्धानुकरण नहीं और न ही प्राचीन रूढ़ियों (चाहे वे किसी भी क्षेत्र में हों) मूक अनुमोदन है, अपितु परम्परा प्राचीन-काल के साहित्य, धारणाओं का सम्यक् बोध ही है। वे परम्परा से प्राप्त ज्ञान का अर्जन और उसके विकास के पक्षधर हैं। यही परम्परा का गत्यात्मक स्वरूप है-"आग्रह इस बात का होना चाहिए कि कवि को अतीत की चेतना का विकास अथवा अर्जन करना चाहिए और फिर जीवन-भर इस चेतना को निरन्तर विकसित करते रहना चाहिए।"

डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त ने क्लासिक को स्पष्ट करते हुए लिखा है-

"इलियट ने अपने आपको क्लासिकवादी कहा है। यह जानना आवश्यक है कि क्लासिकवाद क्या है? इलियट के अनुसार क्लासिक का अर्थ है-परिपक्वता और प्रौढ़ता। क्लासिक साहित्य की सृष्टि तभी हो सकती है, जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो और स्वयं कृतिकार का मस्तिष्क भी प्रौढ़ हो। इन तीन गुणों को उन्होंने मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील की प्रौढ़ता और भाषा की प्रौढ़ता कहा है। मस्तिष्क की प्रौढ़ता के लिए वे इतिहासबोध को आवश्यक मानते हैं। इसके लिए कवि को अपने देश और जाति के अध्ययन के अतिरिक्त दूसरी सभ्य जातियों का इतिहास पढ़ना चाहिए। उस सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिसने हमारी सभ्यता को प्रभावित किया है। सारांश यह है कि कवि को अतीत की पूरी जानकारी होनी चाहिए।"

अब इलियट के परम्परा के सिद्धांत को सरलता से समझा जा सकता है। इलियट से पहले स्वच्छन्दतावाद का जोर था जो कविता को आत्मनिष्ठ मानता था। इलियट ने इसका विरोध किया। उन्होंने देखा कि चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई है और साहित्य अपने लक्ष्य से दूर होता जा रहा है। उन्हें समसामयिक कविता परम्परा से कटी हुई लगी। इसलिए इलियट ने सबसे पहले कविता के क्षेत्र में व्यवस्था स्थापित की। वैयक्तिकता की बढ़ती हुई भिन्न-भिन्न भावनाओं में व्यवस्था स्थापित

करने के लिए एक ऐसी सामान्य भूमिका की आवश्यकता थी, जिसके सहारे अनेकता को एकता में बांधा जा सके। इलियट ने इस सिद्धान्त अर्थात् अनेकता में एकता के मत को प्रस्थान बिन्दु मानकर अपनी साहित्यिक यात्रा आरम्भ की। परम्परा ही वह भूमिका है जो विभिन्नताओं को एकता में बांध सकती है। इसलिए परम्परा से कटे हुए वैयक्तिकतावाद की विभिन्नताओं को इलियट ने सर्वप्रथम परम्परा से जोड़ने की आवश्यकता पर बल दिया और इसके पक्ष में स्वर ऊँचा किया। प्रारम्भ में सन् 1921 में इलियट ने 'परम्परा और वैयक्तिक शक्ति' नामक निबंध प्रकाशित करके अपने विचार प्रकट किये। इलियट ने परम्परा के विषय में जो कुछ कहा, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है-

"परम्परा अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है। इसे विरासत के रूप में उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। यदि कोई उसे प्राप्त करना चाहता है तो उसे श्रम करना होगा। इसके लिए सर्वप्रथम ऐतिहासिक बोध की आवश्यकता है। ऐतिहासिक बोध का अर्थ है-न केवल अतीत को उसके अस्तित्व में देखना, अपितु उसे उसके वर्तमानत्व में भी देखना।"

इसके अतिरिक्त इलियट ने 'सीक्रेड उड' में लिखा है-"परम्परा को छोड़ देने से हम वर्तमान को भी छोड़ बैठेंगे।" आयस्टर स्ट्रेज गार्ड्स में उसने लिखा है-"परम्परा से मेरा तात्पर्य उन सभी सामाजिक कार्यों, रीति-रिवाजों अर्थात् धार्मिक कृत्यों से लेकर नवागन्तुक युग को अभिवादन करने के एकीकृत तरीकों से है जो एक स्थान में रहने वाले एक सम्प्रदाय के व्यक्तियों के रक्त संबंधों को व्यक्त करते हैं।"

परम्परा और संस्कृति- इलियट परम्परा का संबंध संस्कृति से मानते हैं। संस्कृति में किसी जाति या समुदाय के जीवन, कला, दर्शन, साहित्य आदि के उत्कृष्ट अंश सन्निविष्ट रहते हैं। संस्कृति में एक प्रकार का नैरन्तर्य रहता है। उसकी प्राप्ति के लिए अतीत को प्रयत्नपूर्वक जानना जरूरी है। वस्तुतः अतीत के आलोक में ही वर्तमान के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, एक प्रकार से अतीत ही वर्तमान का दिशा-निर्देशन करता है। अतीत और वर्तमान परस्पर पूरक हैं।

इलियट संस्कृति को धर्म से भिन्न मानते हैं तथापि वह धर्म द्वारा नियंत्रित होती है। वे संस्कृति के निर्माण में कला और साहित्य का योग भी स्वीकार करते हैं। अतः कलाकार को संस्कृति की सांस्कृतिक परम्परा का पूर्ण बोध होना चाहिए।

इलियट ने परम्परा के विषय में जो कुछ कहा है, उससे स्पष्ट होता है कि परम्परा का संबंध संस्कृति से है। संस्कृति के अन्तर्गत वे सभी तत्व आ जाते हैं, जो एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त-संबंध को व्यक्त करते हैं। प्रत्येक समुदाय की एक विशिष्ट संस्कृति होती है, यही उसके विविध रूप वाले विभिन्न सदस्यों को एक सूत्र में बाँधती है। संस्कृति की इस महत्ता के आधार पर इलियट ने लिखा है-

"यदि वर्तमान युग की अव्यवस्था को दूर करके एक व्यवस्था स्थापित करनी हो तो ऐसे लोग अवश्य होंगे जो यह अनुभव करेंगे कि शासकीय या अर्थशास्त्रीय ढंग से एकता स्थापित करने की अपेक्षा सांस्कृतिक एकता स्थापित करना अधिक आवश्यक है। वे यह अनुभव करेंगे कि नवीन एकता पुरानी जड़ों पर ही सम्भव है।"

इन जड़ों के लिए इलियट ईसाई निष्ठा और क्लासिकल भाषा समूह मानते हैं। उनके अनुसार ये सामान्य विरासतें पूरे यूरोप की हैं।

धर्म और संस्कृति में भिन्नता- इलियट धर्म और संस्कृति को एक नहीं मानता है। इतने पर भी इलियट की यह मान्यता है कि संस्कृति अपने अत्यधिक अंशों में धर्म से उत्पन्न होती है। संस्कृति का नियंत्रण भी धर्म ही होता है। इलियट की मान्यता यह भी है कि वर्ग पर आधारित समाज में वर्गहीन समाज की अपेक्षा संस्कृति के विकास और उसकी सुरक्षा के लिए अधिक अवसर रहता है। इसी प्रकार इलियट का यह मत भी है कि प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होनी चाहिए।

यह ठीक है कि एक देश की संस्कृति अन्य देश अथवा देशों की संस्कृति को प्रभावित करे और उसके द्वारा स्वयं भी प्रभावित हो, किन्तु इन दोनों की ही विशेषता बनी रहे। इस प्रकार फ्रांसीसी और यूरोपियन संस्कृति दोनों का ही औचित्य है।

परम्परा और विकास- इलियट परम्परा शब्द में विकास का भी अन्तर्भाव मानते हैं। इस आधार पर परिवर्तन जीवन्त साहित्यिक परम्परा का नितान्त आवश्यक तत्व है। इस परम्परा का पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से खण्डित होना भयावह है। स्पष्ट है कि इलियट परम्परा को रूढ़िपालन के रूप में स्वीकार नहीं करते। परम्परा के विकास में परिवर्तन है और परिवर्तन में नवीनता रहती है। अतीत के प्रति विद्रोह परम्परा के विकास में अवरोधक रूढ़ियों को हटाकर उसके स्वस्थ विकास में योग देते हैं, तो वे ठीक हैं। इन विद्रोहों का तभी महत्व है। इस प्रकार एक ओर परम्परा के द्वारा रूढ़ि पर आधारित साहित्य का वर्णन होता है, क्योंकि ऐसा साहित्य उसके निरन्तर विकास में बाधा उत्पन्न करता है और कवि अथवा लेखक की मौलिकता के लिए मौलिकता का भी नियमन होता चलता है।

परम्परा और मौलिकता- परम्परा पालन के साथ मौलिकता नहीं होगी तो परम्परा लाभकारी नहीं होगी। इस विषय में डॉ. भगीरथ दीक्षित का कथन इस प्रकार है-

> *"परम्परा का यह सिद्धान्त इलियट की मौलिक आविष्कार नहीं है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने साहित्य के क्षेत्र में और एडमण्ड वर्क ने रचना के क्षेत्र में परम्परा को महत्त्वपूर्ण बताया है। यह ठीक है कि इलियट ने परम्परा सिद्धान्त को अपनी साहित्य समीक्षा में अत्यधिक महत्त्व दिया है और इसकी विस्तृत विवेचना की है, किन्तु बीज रूप में वह मैथ्यू आर्नोल्ड के समीक्षात्मक लेखों में निहित है। परन्तु क्या परम्परा है और क्या परम्परा नहीं है, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है।"*

परम्परा रूढ़ि नहीं- इलिएट का परम्परा-सिद्धान्त न तो रूढ़ि-पालन है और न मौलिकता का विरोधी है। रूढ़ि-पालन से तो साहित्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है। परम्परा गतिशील चेतना, चिर-गतिशील सर्जनात्मक सम्भावनाओं की समष्टि है। परम्परा जहाँ हमें नवीन का मूल्यांकन करने का निष्कर्ष प्रदान करती है, वहीं प्राचीनता के विकास के साथ-साथ मौलिकता का सृजन भी करती है। इस कारण वे सर्जनात्मक विकास के लिए अतीत में विद्यमान श्रेष्ठ तत्वों का बोध अनिवार्य मानते हैं। परम्परा-ज्ञान के अभाव में हम यह कैसे जान सकेंगे कि मौलिकता क्या है और कहाँ है? वस्तुत: अतीत को वर्तमान में देखना रूढ़िवादिता नहीं, मौलिकता है। वर्तमान कला का यथार्थ मूल्यांकन तभी सम्भव है, जब उन्हें गत कलाकारों के परिप्रेक्ष्य में परखा जायेगा, अन्यथा उसकी श्रेष्ठता-मौलिकता के आकलन का आधार क्या है?

परम्परा-ज्ञान से लाभ- परम्परा-ज्ञान से साहित्यकार को दो लाभ होते हैं-

(1) *उसको यह जानकारी प्राप्त होती है कि कृति में मौलिकता लाने हेतु क्या किया जा सकता है और उसे क्या करना चाहिए?*

(2) *उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि वह जो कुछ कर रहा है, उसका मूल्य क्या है। इस प्रकार परम्परा-ज्ञान द्वारा साहित्यकार को कर्त्तव्य-बोध और मूल्यों का साहित्यिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है।*

महत्व- इलिएट का परम्परा-सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है। संक्षेप में उसकी प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

(1) *इलियट का परम्परा-सिद्धान्त न तो रूढ़ि-पालन है और न मौलिकता का विरोधी है। परम्परावादी होने का अर्थ है-कला तथा साहित्य की पूर्ववर्ती धाराओं से अवगत होकर*

कला अथवा साहित्य की सर्जना करना। परम्परा के ज्ञान एवं निर्वाह के लिए कलाकार से वह विस्तृत ज्ञान की अपेक्षा करती है।

(2) *परम्परा का अर्थ है-कला तथा काव्य की प्रमुख धाराओं के चले आते स्वरूप का ज्ञान।*

(3) *परम्परा से ज्ञान का विस्तार होता है।*

(4) *परम्परा द्वारा अतीत और वर्तमान में जुड़ाव होता है, जिसमें कलाकार को मध्यस्थ की भूमिका निभानी होती है।*

टी.एस. एलियट के परम्परा सिद्धान्त को डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त ने स्पष्ट और सरलता से समझाते हुए कहा है-

"उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्वच्छन्तावाद का बोलबाला रहा है। भावनात्मक अभिव्यंजना के प्रबल आग्रह के फलस्वरूप उसका रूप अस्वस्थ होने लगा। इलिएट ने स्वच्छन्दतावाद के इस दीर्घकालीन और अस्वस्थ रूप को अस्वीकार किया तथा क्लासिक मत का प्रतिपादन किया। फोर एलेन्कलोट एन्ड्रूज की भूमिका में इलियट ने स्वयं को साहित्य में परम्परावादी, राजनीतिक में रायलिस्ट तथा धर्म में एंग्लो-कैथोलिक कहा है। स्वच्छन्दतावादी कविता को कवि का भावाद्रेक मानता है। उसके अनुसार कवि कल्पना की शक्ति द्वारा अपने वैयक्तिक मस्तिष्क से काव्य-रचना करता है। अत: काव्य-रचना में कवि के व्यक्तित्व का प्रमुख स्थान है। यह सिद्धान्त कला सृजन के लिए परम्परागत प्रभावों से मुक्ति पर भी बल देता है। इलियट ने कला को कलाकार का आत्म-प्रकाशन मानने वाले सभी सिद्धान्तों की विस्तृत आलोचना की है। उन्होंने प्रभाववाद को अस्वीकार किया और मिल्टन का विरोध किया। वैयक्तिकता का विरोध करते हुए उन्होंने परम्परा का सिद्धान्त सामने रखा। उन्होंने कहा कि परम्परा का काव्य-रचना में प्रमुख स्थान है और कवि को अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र माना है।"

डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त के अनुसार परम्परा से तात्पर्य उन सभी स्वाभाविक कार्यों, रीति, धार्मिक कृत्यों से है जो एक स्थान पर रहने वाले एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त संबंध को व्यक्त करते हैं। इसका स्पष्ट आशय यह है कि परम्परा का संबंध संस्कृति से है। परम्परा से इलियट का अभिप्राय पहले चली आती हुई स्वस्थ परम्पराओं से है। यह इलियट ने स्पष्ट नहीं किया है कि स्वस्थ परम्परा की क्या परिभाषा है?

टी.एस. इलियट ने वैयक्तिक प्रज्ञा के संबंध

टी.एस. एलियट प्रारम्भ में कविता में कवि की निर्वैयक्तिकता के विषय में अत्यन्त आग्रहपूर्ण रहे थे। इलियट से पूर्ववर्ती जो स्वच्छन्दतावादी आलोचक थे, उनकी धारणा थी कि कविता भावों का सहज उद्रेक है तथा व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। इसी को वैयक्तिक प्रज्ञा कहा जाता था। इसका तात्पर्य था कि कविता में कवि अपने भावों का अथवा व्यक्तिगत प्रज्ञा का प्रकाशन करता है। इलियट ने इस स्वर का विरोध किया तथा कविता को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की अपेक्षा व्यक्तित्व से पलायन माना। इलियट के अनुसार कविता पूरी हो जाने पर कवि को एक असहनीय भार से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार कवि को धनात्मक आनन्द की अपेक्षा ऋणात्मक अथवा नकारात्मक आनन्द मिलता है।

कविता के इस निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के सिद्धान्त के अन्तर्गत कविता का जीवन स्वतंत्र है तथा कविता उपयुक्त माध्यम पाकर अर्थात् कवि का मस्तिष्क पाकर स्वयं अभिव्यक्त होती है, स्वयं अवतरित हो जाती है। इस प्रकार कवि कविता लिखता नहीं है, अपितु कविता स्वयं कवि के माध्यम से कागज

पर शब्द-विधान से उतर जाती है। कविता उत्पन्न हो जाती है, की नहीं जाती है अर्थात् कवि कविता की रचना नहीं करता है। कविता में कवि की व्यक्तिगत प्रज्ञा नहीं होती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण स्थिति है-कवि के व्यक्तित्व का कविता में सन्निवेश अथवा संस्पर्शन मानना। इस सिद्धान्त में भावों की महत्ता की अपेक्षा कला प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण माना गया है।

कविता में दबाव की उत्कटता का महत्त्व- इलियट ने कहा है-"वास्तविक जीवन के भावों की महत्ता और उत्कटता कविता में महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु कला प्रक्रिया अर्थात् उस दबाव की वह उत्कटता महत्त्वपूर्ण है, जिसके कारण मिश्रण तैयार होता है।"

इलियट की निर्वैयक्तिक धारणा भ्रान्तिपूर्ण- कविता में वैयक्तिक नहीं, अपितु निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का प्रयोग होता है, इस धारणा का दूसरे आलोचकों ने विरोध किया है। उन्होंने इलियट की इस धारणा को भ्रान्तिपूर्ण बताते हुए कहा है-"इलियट ने स्वयं अपनी इस धारणा अर्थात् कविता में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के प्रयोग की मान्यता को अप्रौढ़ता का रूप बताया है। कवि यीट्स की कविता की आलोचना के सन्दर्भ में इलियट ने अपनी निर्वैयक्तिकता की धारणा के विषय में कहा है कि यह हो सकता है कि मैं अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका था। उस विचार को मैंने अप्रौढ़ रूप से ग्रहण किया था। इलियट ने अपने पूर्वमत का अर्थात् कविता में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के मत में सुधार करते हुए निर्वैयक्तिक कला अथवा प्रज्ञा के दो रूप माने हैं-

(1) *वह जो कुशल शिल्पी के लिए प्राकृतिक होती है।*

(2) *वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है।*

यह दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है।

इस दृष्टि से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इलियट पहले तो कविता को कुशल शिल्प-विधान मात्र मानते थे, परन्तु बाद में निर्वैयक्तिकता का अर्थ प्रौढ़ कवि के निजी अनुभव की सामान्य अभिव्यक्ति मानने लगे थे। इलियट ने भावों की इस अभिव्यक्ति को सार्थकता प्रदान की है जो भाव सर्वसाधारण के बन जाते हैं। अत: कविता के संबंध में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का अर्थ होगा-कवि के भावों का सामान्यीकरण। यही भारतीय काव्यशास्त्र का साधारणीकरण है। कवि के अपने अनुभव कविता में व्यक्त होकर सर्वसामान्य के हो जाते हैं।

इलियट के निर्वैयक्तिक सिद्धान्त को व्यक्तित्व संस्पर्श से रहित नहीं लिया जा सकता। इलियट ने अनेक प्रकार के अन्य संकेत दिये हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इनकी प्रारम्भिक मान्यता भले ही व्यक्तित्व सापेक्ष नहीं थी, परन्तु बाद में ये व्यक्तित्व सापेक्ष के प्रबल समर्थक हो गये थे। इसी को वैयक्तिक प्रज्ञा कह सकते हैं।

इलियट और वैयक्तिक प्रज्ञा- कविता में वैयक्तिक प्रज्ञा अथवा कवि के व्यक्तिगत भावों के संबंध में इलियट का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है-"मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों के द्वारा स्वयं प्रभावित नहीं होता है।"

इलियट के इस कथन के आधार पर माया अग्रवाल ने लिखा है-"इस कथन में कवि के व्यक्तित्व और कलाकृति के आदान-प्रदान एवं संस्पर्श की भावना सहज स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त इलियट द्वारा मान्य 'काव्य के तीन स्वर' भी इसी ओर निर्देश करते हैं। इलियट के अनुसार काव्य का प्रथम स्वर वह है, जिसमें कवि स्वयं से बात करता है। दूसरा स्वर वह है, जिसमें कवि अन्य से बात करता है और तीसरे स्वर से कवि पात्रों के माध्यम से बात करता है। पहला स्वर कवि के अपने भावों की सम्प्रेषणीयता से सम्बद्ध है, दूसरे में विशेष उद्देश्य की प्रधानता होती है; जैसे-महाकाव्य,

नीतिकाव्य आदि। तीसरा स्वर नाटकों से संबंधित है। इनमें दूसरा और तीसरा स्वर कवि की सजगता एवं प्रबुद्धता से निर्मित होता है। इनमें कवि का व्यक्तित्व विशेष रूप से उभरकर सामने आता है। इनमें वह व्यक्तित्व से पलायन का निर्माण करता है। फिर भी इन दोनों स्वरों में कविता में व्यावर्तक रेखा नहीं खीची जा सकती। कवि के व्यक्तित्व से रहित कविता भाषण हो सकती है, कविता नहीं। अत: कहना होगा कि इलियट ने कवि के व्यक्तित्व के महत्त्व को ही प्रतिपादित किया है।"

कवि के व्यक्तित्व का महत्त्व ही आलोचना की भाषा में वैयक्तिक प्रज्ञा है। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भिक कविता में कवि की निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का सबल समर्थक व आलोचक इलियट बाद में वैयक्तिक प्रज्ञा का पक्षधर हो गया था। यह बात अवश्य है कि कवि या साहित्यकार आपबीती को जगबीती बनाकर कहता है। यही कविता का साधारणीकरण है। कविता में व्यक्त कवि के भाव सभी पाठकों और श्रोताओं को अपने भाव प्रतीत होते हैं। तभी वे कविता का रसास्वादन कर पाते हैं। कविता में कवि के भाव या अनुभव होते तो व्यक्तित्व ही हैं, पर वह उन्हें इस रूप में व्यक्त करता है कि पाठकों और श्रोताओं को वे अपने भाव और अनुभव प्रतीत होते हैं। यही कवि की कुशलता और सफलता है।

डॉ. कृष्णदेव शर्मा ने कविता में कवि की वैयक्तिक प्रज्ञा का समर्थन इलियट के सम्प्रेषणीयता संबंधी विचारों के माध्यम से इस रूप में किया है, उन्होंने 'साहित्य और कवि' शीर्षक से अपनी वैयक्तिक प्रज्ञा संबंधी मान्यता को अपने शब्दों में व्यक्त किया है-

> *"कवि के विचारों की अपनी भावभूमि होती है। यह निजी आधार ही साहित्य का सर्जक होता है। इस प्रकार कवि का दृष्टिकोण उसके साहित्य (कविता) के द्वारा ही देखा और परखा जा सकता है। इस प्रकार जब कवि समीक्षात्मक अंश की रचना करता है तो उसमें भी उसके विशिष्ट दृष्टिकोण की ही प्रमुखता होती है।"*

यह निजी अनुभव की प्रमुखता ही वैयक्तिक प्रज्ञा है। निजी अनुभव के माध्यम से डॉ. कृष्णदेव शर्मा कविता में कवि की वैयक्तिक प्रज्ञा का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। डॉ. प्रताप नारायण टण्डन ने वैयक्तिक प्रज्ञा के सिद्धान्त को दूसरे प्रकार से समझाया है-"जब काव्य तथा समीक्षा-इन दोनों माध्यमों से साहित्यकार (कवि) अपने एक ही विशिष्ट दृष्टिकोण (वैयक्तिक प्रज्ञा) को अभिव्यक्त तथा पुष्ट करता है तो उसे एक ही रूप में अधिक मान्यता नहीं मिलती, वरन् दोनों रूपों में उसका महत्त्व समान रहता है। इस प्रकार कोई भी जागरूक साहित्यकार (कवि) अपने युग की चेतना की निर्मिति में यदि अपनी कविता द्वारा योग देता है तो उसका समीक्षात्मक साहित्य भी उसे अनिवार्य रूप से प्रभावित करता है और सच तो यह है कि यह दृष्टिकोण स्वयं इलियट पर भी उसी रूप में लागू होता है, क्योंकि इलियट ने आधुनिक साहित्य जगत् को अपने काव्य से जितना प्रभावित किया है, कम-से-कम उतना ही अपने समीक्षात्मक विचारों से अनुप्रेरित भी किया है।"

इससे अर्थात् वैयक्तिक प्रजा से एक अन्य तथ्य तथा समस्या का समाधान प्राप्त होता है कि आजकल प्रत्येक कवि किसी-न-किसी का समर्थक होता है और उसी का अपने काव्य में प्रचार-प्रसार वैयक्तिक रूप से करता है। इन मतों में कभी-कभी एक-दूसरे का रुचि-वैभिन्य के कारण विरोध भी रहता है। कोई कवि किसी बात का समर्थन करता है और दूसरा कवि किसी दूसरे मत की मान्यता प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही समीक्षक की भी अपनी रुचि होती है। यदि किसी कवि के मत से समीक्षक की रुचि नहीं मिलती तो वह अपनी रुचि-विशेष के कारण साहित्य का आकलन निष्पक्ष रूप से नहीं कर पाता और ऐसी स्थिति में खण्डन-मण्डन रूपी वैचारिक युद्ध-सा आरम्भ हो जायेगा। इस वैचारिक युद्ध से बचने के लिए इलियट ने कवियों को यह सुझाव दिया है कि वे अपने साहित्य में युगीन विचारों की कारयित्री प्रतिभा से समीक्षा भी प्रस्तुत करें।

इस आधार पर माना जा सकता है कि टी.एस. इलियट निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का ही नहीं, वैयक्तिक प्रज्ञा का भी समर्थक था। वह यह स्वीकार करने पर विवश हो गया था कि वैयक्तिक प्रज्ञा के अभाव में साहित्य रचना सम्भव नहीं है। यदि कविता में वैयक्तिक प्रज्ञा का कोई योगदान नहीं है तो सभी कवियों की कविता एक समान क्यों नहीं होती। वैयक्तिक प्रज्ञा ही कविता की भिन्नता और विविधता का कारण बनती है।

डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त ने इलियट के निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के विचारों में बाद के संशोधन होने और उसके द्वारा वैयक्तिक प्रज्ञा का महत्त्व स्वीकार करने की बात कही है। उन्होंने लिखा है-

"उनके (इलियट के) प्रारम्भिक वक्तव्यों से स्पष्ट है कि कवि कविता लिखता नहीं, कविता स्वयं कवि के माध्यम से कागज पर शब्द-विधान के रूप में उतर आती है। जब तक कविता पूरी नहीं हो जाती, तब तक कवि को यह ज्ञान नहीं होता कि क्या होने जा रहा है? पर क्या उनके (इलियट के) निर्वैयक्तिकता संबंधी ये आरम्भिक विचार अन्त तक बने रहे? यीट्स के काव्य के संबंध में जो विचार उन्होंने (इलियट ने) प्रकट किये हैं और जो शिकायत की है उसके आरम्भिक काव्य में कवि का अपूर्व व्यक्तित्व नहीं मिलता, उससे लगता है कि बाद में चलकर इलियट के विचार या तो बदल गये थे या जैसा कि स्वयं उन्होंने कहा-मैं उस समय अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका था, बाद में निर्वैयक्तिकता के संबंध में उन्होंने निम्नलिखित वक्तव्य दिया जो उनकी बात को समझने में अधिक सहायता करता है। निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते हैं-एक वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए प्राकृतिक होती है। दूसरी निर्वैयक्तिकता वह है जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भले ही उनके (इलियट के) प्रारम्भिक मत की शब्दावली से लोगों को यह भ्रम हो गया हो कि वे कविता को कुशल शिल्प-विधान मानते थे। बाद में चलकर कला की निर्वैयक्तिकता से इलियट का अभिप्राय मात्र कुशल शिल्पी की निर्वैयक्तिकता से नहीं है।

अब तो वे कला की निर्वैयक्तिकता को प्रौढ़ कवि के निजी अनुभवों की सामान्य अभिव्यक्ति मानते हैं। भारतीय आचार्यों के समान वे भी यह मानते हैं कि कवि अपने निजी भावों की अभिव्यक्ति कविता में करते हैं। इसी का नाम वैयक्तिक प्रज्ञा है। कवि अपने निजी भावों की अभिव्यक्ति इस रूप में करता है कि वे भाव उसके ही नहीं, सर्व-सामान्य के भाव बन जाते हैं। अतएव इलियट की निर्वैयक्तिकता का अर्थ हुआ- कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण। कवि अपनी तीव्र सम्वेदना और ग्रहणक्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियों को स्वायत्त अर्थात् अपने वश में की गयी अनुभूतियाँ, उसकी निजी अनुभूतियाँ हो जाती हैं। जब वह अपने इन स्वभूत अर्थात् अपने बने हुए भावों को काव्य में व्यक्त करता है तो वे उसके निजी अनुभव होते हुए भी सबके अनुभव बन जाते हैं। कवि के अपने भाव साधारण, स्थूल और सपाट हो सकते हैं, पर कविता में ढलकर वे सूक्ष्म और जटिल बन जाते हैं। यह मत सभी को ग्राह्य होना चाहिए। भारतीय काव्यशास्त्र का साधरणीकरण का सिद्धान्त भी तो यही बात कहता है। वह भी कवि के निजी व्यक्तित्व को सामान्यीकृत रूप में काव्य के लिए ग्राह्य स्वीकार करता है।

इलियट कवि और कलाकृति (कविता) दोनों का परस्पर प्रभावित होना अस्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है-"मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं प्रभावित होता है।"

परस्पर प्रभाव डालने की इस क्रिया का फल यह होता है कि काव्यकृति में कवि के व्यक्तित्व की छाया रहती है, कवि अपने काव्य रूपी संसार में व्याप्त रहता है। वर्जिल कवि के प्रसंग में

इलियट ने कहा है-"जब मैं वर्जिल का संसार कहता हूँ, तब मेरा आशय उस संसार से होता है, जिसे उसने स्वयं निर्मित किया है।"

अत: यह कहना गलत होगा कि इलियट कविता में कवि के व्यक्तित्व को अस्वीकार करता है। दूसरे शब्दों में इसे कविता में वैयक्तिक प्रज्ञा की स्वीकृति कह सकते हैं।

इलियट ने अपने भाषण 'कविता के तीन स्वर' में इस प्रकार स्पष्ट किया है-"प्रथम स्वर वह है, जिसमें कवि अन्य किसी से नहीं अपितु अपने आप से बात करता है। कविता का द्वितीय स्वर वह है, जिसमें कवि अन्यों अर्थात् श्रोताओं से बात करता है। तृतीय स्वर में कवि स्वयं वक्ता न होकर अपने पात्रों के माध्यम से बोलता है। प्रथम प्रकार के स्वर में कवि का लक्ष्य सम्प्रेषण अर्थात् दूसरों तक अपने भावों को पहुँचाना नहीं होता। इस स्थिति में तो वह एक प्रकार के भार से व्यथित रहता है और अपनी बात कहकर उससे छुटकारा पा लेता है। इस प्रकार की कविता में आन्तरिक वस्तु और रूप का साथ-साथ विकास होता चलता है। इसी प्रकार की कविता के विषय में इलियट ने कहा था-"कविता स्वयं अवतरित हो जाती है, लिखी नहीं जाती।" ऐसी दशा में कवि केवल माध्यम होता है। दूसरे स्वर में कविता किसी सजग सामाजिक उद्देश्य के लिए लिखी जाती है। मनोरंजन अथवा उपदेश के लिए लिखा गया साहित्य, व्यंग्यकाव्य, नीतिकाव्य इसी कोटि में आता है। महाकाव्य में भी यही स्वर प्रधान होता है। ऐसी कविताओं में कुछ अंश पूर्व निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए यदि हमें कहानी कहनी है तो पहले से ही हम उसके कथानक-शिल्प के विषय में सोच लेते हैं कि उसके कथानक का गठन कैसा होगा? कविता के तीसरे स्वर में नाटक आते हैं। स्पष्ट है कि दूसरे और तीसरे स्वरों की कृतियों को इलियट कवि की अचेतावस्था से उद्भूत नहीं मानते। इनमें वह अर्थात् कवि पूर्ण सजग होकर अपने व्यक्तित्व से कृति का निर्माण करता है, वह व्यक्तित्व से पलायन नहीं करता, अपितु अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। काव्यशास्त्र की भाषा में इसी का नाम वैयक्तिक प्रज्ञा का प्रयोग है।

वास्तविकता यह होती है कि किसी भी कविता में एक स्वर का मिलना कठिन होता है। कविता के ये तीनों स्वर परस्पर की संगति में एक साथ रहते हैं। यदि कवि ने अपने आप से कभी कुछ नहीं कहा तो उसकी कृति कविता नहीं होगी, वह शानदार अनुभूति भले ही हो। यदि कवि ने केवल अपने लिए कविता लिखी है तो वह नितान्त व्यक्तिगत होगी। जो कविता केवल कवि के लिए होगी, वह कविता नहीं हो सकती।

निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के प्रसंग में वैयक्तिक प्रज्ञा- इलियट ने कला में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा अथवा कवि व्यक्तित्व से अप्रभावित होने की बात बड़े जोर-शोर से कही है। इसी की आलोचना करते हुए कविता में वैयक्तिक प्रज्ञा का निर्धारण किया गया है। इस संबंध में डॉ. भगीरथ दीक्षित का मत ध्यान देने योग्य है-

> *"आरम्भ में मैंने (डॉ. भगीरथ दीक्षित ने) इस तथ्य की ओर संकेत कर दिया है कि इलियट कवि हैं, अतएव कविता के विषय में उनके मतों के कुछ अपूर्व गुण हैं और उनकी कुछ अपूर्व सीमाएँ हैं। यदि उनकी सीमाओं में हम उन गुणों को देखें तो हम उन्हें अपेक्षाकृत अधिक देख सकते हैं। इलियट का मत है कि अपनी काव्य-प्रक्रिया के विषय में कवि जो कुछ कहता है, उसे उसी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है, तटस्थ एवं विवेक-सम्पन्न समीक्षक द्वारा उसकी पूरी परीक्षा होनी चाहिए। इस दृष्टि से एलियट के मतों की परख की जानी चाहिए। कवि रूप में नहीं, समीक्षक के रूप में इलियट ने अपने मत की स्वयं समीक्षा की है।"*

पहले हम (डॉ. भगीरथ दीक्षित) उसी को प्रस्तुत कर रहे हैं-

"सन् 1940 में यीट्स के विषय में इलियट ने कहा है-यीट्स के प्रारम्भिक कविता संग्रहों की सभी कविताओं में मुझे इधर-उधर केवल कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं, जिनमें अपूर्व व्यक्तित्व का भान होता है। जो हमें कवि के मानस और अनुभूतियों के विषय में और अधिक जताने की इच्छा और उत्तेजना भर देता है। यीट्स के निजी भावात्मक अनुभव की उत्कटता हमें कदाचित ही मिलती है। उसकी कुछ उत्तरकालीन कृतियों में हमें यह तत्त्व मिलता है।"

ध्यान देने की बात यह है कि जिसने कला को 'व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति' नहीं, अपितु 'व्यक्तित्व का पलायन' माना और जिसने कविता में वास्तविक जीवन के भावों की उत्कटता को नहीं, अपितु कला-प्रक्रिया की उत्कटता को महत्त्वपूर्ण माना, वह अब यह शिकायत करता है कि यीट्स की प्रारम्भिक कविता में उसका अपूर्व व्यक्तित्व नहीं मिलता है। उसमें उसके व्यक्तिगत-भावात्मक अनुभवों की उत्कटता नहीं मिलती है। अतएव इस जिज्ञासा के समाधान के निमित्त इलियट ने वहीं पर अपनी स्थिति स्पष्ट कर देना ठीक समझा। इलियट ने कहा-

"मैंने अपने प्राम्भिक लेखों में कला की निर्वैयक्तिकता को स्वीकार किया है और अब यह प्रतीत होगा कि यीट्स की उत्तरकालीन कविताओं को उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के कारण श्रेष्ठ बताने से मैं अपने इस मत का विरोध कर रहा हूँ। यह हो सकता है कि मैं उस समय अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका या उस विचार को मैंने अप्रौढ़ रूप से ग्रहण किया था किन्तु अब मैं सोचता हूँ कि इस विषय में तथ्य इस प्रकार है-

"निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते हैं- एक वह निर्वैयक्तिकता होती है जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए प्राकृतिक होती है। दूसरी निर्वैयक्तिकता वह है जो प्रौढ़ कलाकार की होती है। यह दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है, जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है। वह अपने अनुभव की सम्पूर्ण विशिष्टता को उसके द्वारा सामान्य प्रतीक प्रस्तुत करने के लिए बनाये रखता है।"

इसके बाद यीट्स के बारे में इलियट ने कहा-"यह विचित्र बात है कि प्रथम प्रकार का महान शिल्पी होकर भी वह दूसरे प्रकार का महान् कवि बन गया। यह बात नहीं है कि वह भिन्न व्यक्ति हो गया, क्योंकि जैसा मैंने संकेत किया है, हम अनुभव करते हैं कि यौवनावस्था के उत्कट भावों का उसने अनुभव किया था और वास्तव में इन प्रारम्भिक अनुभवों के अभाव में वह उस शान को उपलब्ध न कर सका हो जो उसकी उत्तरकालीन रचनाओं में मिलता है, किन्तु प्रारम्भिक अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए उसे उत्तरकालीन प्रौढ़ावस्था की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी और मेरे विचार में इस तथ्य ने उसे अपूर्व और विशेष रमणीय कवि बनाया।"

इससे स्पष्ट है कि इलियट वैयक्तिक प्रज्ञा का प्रयोग भी कविता में मानने लगा था, क्योंकि यौवन और उसके पश्चात्वर्ती भावों में अन्तर वैयक्तिक प्रज्ञा का ही अन्तर सिद्ध करते हैं।

टी.एस. इलियट की आलोचना प्रणाली का विश्लेषण

टी.एस.इलियट के समीक्षात्मक विचार प्रासंगिक रूप से उन्हीं स्थलों पर मिलते हैं, जहां उन्होंने यूरोपीय साहित्य के विविध अंगों पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है। इलियट ने काव्यलोचन के सम्बन्ध में कारयित्री और भावयित्री दोनों शक्तियों को एक-दूसरे का पूरक माना है। इसी से उनके समीक्षा सम्बन्धी विचारों के अध्ययन के लिए उनकी कविताओं का अध्ययन आवश्यक है और कविताओं के अध्ययन के लिए उनके काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक है।

आजकल ऐसा देखा जाता है कि एक ओर तो वैशिष्ट्य की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है तो दूसरी ओर विविधता की ओर भी साहित्यकारों का झुकाव है। इसी से इलियट ने परम्परानुगामिता की प्रवृत्ति की दुरूहता की ओर संकेत किया है। इस सन्दर्भ में उसने बताया है कि किसी कवि द्वारा प्रतिपादित समीक्षात्मक सिद्धान्त वैचारिक पूर्णता तथा स्वतन्त्रता की दृष्टि से तो महत्व रखते ही हैं, उस विशिष्ट कवि द्वारा रचे गये क्रियात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भी महत्वहीन नहीं होते।

साहित्य और कवि - कवि के विचारों की अपनी भावभूमि होती है, यह निजी आधार ही साहित्य का सर्जक होता है। इस प्रकार कवि का दृष्टिकोण उसके साहित्य के द्वारा ही देखा और परखा जा सकता है। इस प्रकार जब कवि किसी समीक्षात्मक अंश की रचना करता है तो उसमें भी उसके विशिष्ट दृष्टिकोण को समझाता है। वह लिखते हैं - 'जब काव्य तथा समीक्षा इन दोनों माध्यमों से साहित्यकार अपने एक ही विशिष्ट दृष्टिकोण को अभिव्यक्त तथा पुष्ट करता है, तो उसे एक ही रूप में अधिक मान्यता नहीं मिलती वरन् दोनों रूपों में उसका महत्व समान रहता है। इस प्रकार कोई भी जागरूक साहित्यकार अपने युग की चेतना की निमिति में यदि अपनी कविता द्वारा योगदान देता है तो उसका समीक्षात्मक साहित्य भी उसे अनिवार्य रूप से प्रभावित करता है।' और सच तो यह है कि यह दृष्टिकोण स्वयं इलियट पर भी उसी रूप में लागू होता है, क्योंकि, इलियट ने आधुनिक साहित्य जगत को अपने काव्य से जितना प्रभावित किया है, कम से कम उतना ही अपने समीक्षात्मक विचारों से अनुप्रेरित भी किया है।

इससे एक और तथ्य तथा समस्या का समाधान मिलता है कि आजकल प्रत्येक कवि किसी न किसी मत का समर्थक होता है और उसी का अपने काव्य में प्रचार-प्रसार-वैचारिक रूप से करता है। इन मतों में कभी-कभी एक-दूसरे का रुचिवैभिन्य के कारण विरोध भी रहता है- कोई कवि किसी मत का समर्थन करता है और दूसरा कवि किसी दूसरे मत का। इसके साथ ही, समीक्षक की भी अपनी रुचि होती है। यदि किसी कवि के मत से समीक्षक की रुचि नहीं मिलती तो वह अपनी रुचि- विशेष के कारण साहित्य का आंकलन निष्पक्ष रूप से नहीं कर पाता और ऐसी स्थिति में खण्डन - मण्डन रूपी वैचारिक युद्ध सा आरम्भ हो जाएगा। इस वैचारिक युद्ध से बचने के लिए इलियट ने कवियों को यह सुझाव दिया है कि वे अपने साहित्य में युगीन चेतना लाने वाले विचारों को भावयित्री प्रतिभा से समाविष्ट करें तो साथ ही उन विचारों की कारयित्री प्रतिभा से समीक्षा भी प्रस्तुत करें।

आलोचना की समस्याएं - आलोचक के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए इलियट उन्हें दो सैद्धान्तिक सीमाओं में आबद्ध करते हैं - कविता क्या है और क्या कविता उत्कृष्ट वस्तु है इन दोनों पर विचार करते हुए इलियट ने स्वयं कहा है 'कोई भी सैद्धान्तिक कौशल दूसरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए पर्याप्त नहीं होगा, क्योंकि किसी भी ऐसे सिद्धान्त का कोई विशेष महत्व नहीं जो अनुभव बहुत देर तक विवेचन के सामान्यीकरण पर आश्रित रहता है।'

इलियट ने आलोचना को सीमाबद्ध करते हुए इस तथ्य की ओर संकेत किया कि आलोचना द्वारा परम्परा का अनुगमन करना स्पष्ट और निश्चित रूप से रूढ़िवाद नहीं है, क्योंकि प्राचीन परम्पराएं मानव के भावी जीवन के विकास की आधारभूमि होती हैं और इस प्रकार वे प्राचीन परम्पराएं हमारे वर्तमान को भी प्रभावित करती हैं। वर्तमान के आधार पर ही अतीत का मूल्यांकन होता है, इसीलिए अतीत की परम्पराओं की उपेक्षा सर्वथा सम्भव नहीं है। हां इनका पूर्ण आशय लेना भी आयुक्ति संगत है, क्योंकि नवीन विचारों और स्थितियों के सन्दर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में ही आलोचना दो दृष्टिकोणों से होती हैं (1) कवि के तात्कालिक समय की पुष्टि से कवि का मूल्यांकन करने के लिए - इसके

लिए कवि युगीन दृष्टि की अनिवार्यता है, और (2) वर्तमान समय में उसकी उपादेयता - वर्तमान पर दृष्टि केन्द्रित करके इस प्रकार की आलोचना की जाती है।

उत्कृष्ट आलोचना प्रणाली - 'द फंक्शंस आफ क्रिटिसज्म' नामक निबन्ध में इलियट ने बताया है कि समीक्षा की कौन सी प्रणाली उत्कृष्ट है और कौन सी निकृष्ट। इलियट का विचार है कि उत्कृष्ट का प्रमुख उद्देश्य सहृदय में ऐसी दृष्टि निर्मित करना है, जिससे वह साहित्य के अध्ययन तथा रसास्वादन की क्षमता उत्पन्न कर सके, अर्थात् अद्येता को रसास्वादन करने की क्षमता देना अथवा उसकी दृष्टि को समझ-बूझ का मादा देना ही उनके अनुसार आलोचना का उद्देश्य है और वही आलोचना प्रणाली उत्कृष्ट होगी जो ऐसी दृष्टि प्रदान करे। इलियट ने यह बात समग्रता के आधार पर कही है और खण्डन-मण्डन की और विशेष ध्यान नहीं दिया है। यही बात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि आलोचना का दृष्टिकोण लोकदृष्टि होना चाहिए।

काव्य एवं नाटक की भाषा के सम्बन्ध में विचार - इलियट ने बताया है कि नाटक की रचना करते समय गद्य का ही प्रयोग करना चाहिए, पद्य का नहीं। इसका कारण यह है कि नाटक के प्रयोजन और विश्लेषण के सन्दर्भ में भाषा का प्रश्न गौण है, वह तो एक माध्यम है। अत: अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए गद्य की भाषा का प्रयोग ही उत्तम है। यदि कवि पद्य ही प्रयोग करना चाहे तो कर ले, पर गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण नहीं होना चाहिए। साथ ही जहां तक कविता की भाषा का प्रश्न है, उसमें सरलता के साथ उच्चता का गुण अत्यावश्यक है। काव्य में कल्पना का प्रयोग भी होता है, पर उसकी अतिशयता न हो, वह यथार्थ के धरातल से बिलकुल दूर न चली जाये, कल्पना के उन्मुक्त आकाश में विचरण भले ही करे, पर छाया पृथ्वी पर ही आये अथवा विश्राम के लिए आश्रय स्थल धरती का ही हो, इसी से वह विचारों की तीव्रता की अपेक्षा कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता पर विशेष बल देते हैं। डा. कृष्ण वल्लभ जोशी ने इलियट के योगदान का मूल्यांकन करते हुए लिखा है 'आज वह पाश्चात्य साहित्य के क्षेत्र में युगांतरकारी और नवीन धारा का प्रवर्तक माना जाता है। उसके काव्यचिन्तन और कविता, दोनों ने ही न केवल यूरोपीय और अमरीकी साहित्य को प्रभावित किया, अपितु जापान और भारत देशों का आधुनिक साहित्य भी इलियट के काव्य चिन्तन के प्रभाव से मुक्त नहीं है।'

अव्यक्तिवाद या निर्वैयक्तिकवाद

कलाकार की दो भूमिकाएं होती हैं- वह परंपरा से कुछ लेता है तथा परंपरा को कुछ देता है। इस प्रक्रिया में परंपरा से लेने के लिए कलाकार को आत्म-अवसान या कुछ त्याग करना पड़ता है। यों भी कहा जा सकता है कि उसे अपने व्यक्तित्व-बोध का किंचित् तिरस्कार करना होता है। इलियट के अनुसार- 'The Progress of an artist is a continual self sacrifice, a continual extinction of personality.'

कलाकार की उन्नति का आधार व्यक्तित्व विरहित होना तथा व्यक्तित्व का परित्याग ही है। कला के क्षेत्र में यह प्रक्रिया ही निर्वैयक्तिकरण की प्रक्रिया कही जाती है, जिसमें कलाकार में व्यक्तित्व का अनवरत रूप से अवसान होता है, क्योंकि इलियट परंपरा से अधिकाधिक मात्रा में ग्रहण की बात स्वीकार करता है, अत: उसकी दृष्टि में श्रेष्ठ काव्य सृजन के लिए अव्यक्तिवाद महत्वपूर्ण है।

निर्वैयक्तिकता के रूप- इलियट ने इसके दो रूप स्वीकार किये- (i) **प्राकृतिक-** जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए होती है, (ii) प्रौढ़ कलाकारों द्वारा उपलब्ध निर्वैयक्तिकता।

उनकी मान्यता है कि 'प्रौढ़ कवि का वैयक्तिक अनुभव-क्षेत्र भी निर्वैयक्तिक ही होता है।

टी.एस. इलियट आलोचनात्मक सिद्धान्तों के विवेचन में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा और वैयक्तिक प्रज्ञा-इन दो शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का तात्पर्य यह है कि कवि किसी कविता की रचना करते समय किसी वस्तु की ही कल्पना और अलंकारपूर्ण वर्णन करता है, वह उस पर अपने व्यक्तित्व और अपने व्यक्तिगत विचारों का आक्षेप नहीं करता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कवि वर्ण्य-वस्तु को प्रधानता देता है। इसी को वस्तुनिष्ठ समीकरण कहा जा सकता है। बाद में इलिएट वैयक्तिक प्रज्ञा अर्थात् कविता में वस्तुनिष्ठता के अभाव का समर्थन करने लगे थे, पर उनकी आलोचना में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा अथवा वस्तुनिष्ठ समीकरण की ही अधिकता है।

डॉ. भगीरथ दीक्षित ने इस वस्तुनिष्ठ समीकरण के लिए इलियट पर पड़ने वाले अन्य कवियों और आलोचकों के प्रभाव को माना है। इस विषय में डॉ. भगीरथ दीक्षित ने टी.ई. ह्यूम और एजरा पाउण्ड के विचारों का विवेचन किया है।

टी.ई. ह्यूम का वस्तुनिष्ठ समीकरण- ह्यूम विकासवाद के विरोधी थे। उन्होंने सृष्टि में नैरन्तर्य अर्थात् निरन्तर विकास होने की बात स्वीकार नहीं की। ह्यूम यह मानते हैं कि मनुष्य मूलतः अच्छा है। परिस्थितियाँ मनुष्य को बुरा बनाती हैं। रूसो ने इसीलिए लोगों को बताया कि मनुष्य प्राकृतिक अर्थात् स्वाभाविक रूप से अच्छा होता है। बुरे नियमों और परम्पराओं के दबाव के कारण वह बुरा बन जाता है। इन दबावों को यदि हटा दिया जाये तो मनुष्य की अगणित सम्भावनाओं को उभरने का अवसर प्राप्त हो जायेगा। इस प्रवृत्ति पर चलने वाले साहित्यकारों को ह्यूम ने स्वच्छन्दतावादी माना है।

दूसरी ओर वायरेस के मत के अनुसार मनुष्य की शक्ति सीमित है। वह जिस शक्ति के साथ अस्तित्व में आया है-उसी सीमित शक्ति के साथ वह जीवन भर रहेगा। मनुष्य की शक्ति को असीम मानना या उसमें असीमित सम्भावनाओं के उभरने का विश्वास करना भ्रम है। मनुष्य कुएँ के समान नहीं अपितु उस बाल्टी के समान है। मनुष्य की सीमित शक्ति में विश्वास रखने वाले मत को उसने 'क्लासिक' मत स्वीकार किया है। उसने लिखा है-"क्लासिक मत को हम स्वच्छन्दतावादी मत से ठीक विरुद्ध मानते हैं। मनुष्य असाधारण रूप से सीमित और निश्चित प्राणी है, उसकी प्रकृति पूर्णतः स्थायी है। परम्परा और व्यवस्था द्वारा ही उसमें अच्छाई लाई जा सकती है।"

ऊपर जो कुछ कहा गया है, इलियट को समझने के लिए उसमें दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात यह है कि ह्यूम मनुष्य की शक्ति को सीमित मानता है और उसमें पूर्णता की सम्भावना नहीं है। आदिम पाप उसकी स्थायी प्रवृत्ति है। ईसाई धर्म में आदिम पाप की रूढ़ मान्यता को ही ह्यूम ने क्लासिक मत माना है। ह्यूम ने लिखा है-"जो महत्त्वपूर्ण है, उसे लोग समझ नहीं पाते हैं। महत्वपूर्ण है-'आदिम पाप', जैसे धर्मसम्मत मत। ये धार्मिक प्रवृत्ति की निकटतम अभिव्यक्तियाँ हैं। मनुष्य किसी भी अर्थ में पूर्ण नहीं है। वह एक तुच्छ प्राणी है।

दूसरी बात परम्परा और व्यवस्था द्वारा मनुष्य में अच्छाई उत्पन्न करने की है। इलियट की परम्परा विषयक मान्यता का भी उनकी अर्थात् ह्यूम की समीक्षा पर अधिक प्रभाव है। ह्यूम का मत है कि जिस प्रकार मनुष्य निरपेक्ष प्राणी के रूप में जन्म लेता है, वह किन्हीं माँ-बाप की सन्तान होता है, उसी प्रकार साहित्यिक विषयों में भी वह सबसे कटकर नहीं रह सकता है। साहित्य के क्षेत्रों में किसी एक व्यक्ति का मत लगभग सम्पूर्ण रूप से पूर्व के साहित्य इतिहास का मत है और वह चाहे जो सोचे, वह उस साहित्य इतिहास के मत से शासित होगा। सौन्दर्य के निर्णय के विषय में अर्थात् साहित्य में कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष रूप से नहीं रह सकता। इन दो बातों के अतिरिक्त रोमेण्टिसज्मि के विरोध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए ह्यूम ने कई अन्य बातें कहीं हैं, जिनका इलियट पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। ह्यूम की मान्यता है कि काव्य विषय का कोई महत्त्व नहीं होता है। महत्त्व इस बात का है कि काव्य में वास्तविक तल्लीनतामय आनन्द है या नहीं। क्या कवि ने जिस वस्तु में आनन्द

प्राप्त किया, उसमें वास्तव में उसने बिम्बात्मक अनुभूति प्राप्त की है। इसका महत्त्व नहीं है कि वस्तु किसी महिला की जूती है या तारों से भरा आकाश।

अपनी बात समझाने के लिए ह्यूम ने लिखा है-"यदि आप सड़क पर किसी स्त्री के पीछे-पीछे चल रहे हैं और आप उसकी एड़ी से उठते हुए घाघरे का विचित्र ढंग से हिलना देखते हैं, यदि उसकी विचित्र गति से आपको इतना आनन्द आता है कि आप उसके उपयुक्त विशेषण की खोज करते-करते अन्त में उसे पा लेते हैं तो आपको उपयुक्त कलात्मक भाव उपलब्ध होगा, किन्तु जिस उत्कट आनन्द के साथ आप उस वस्तु को देखते हैं, उसी के द्वारा आप वैसा प्रयत्न करने में समर्थ होते हैं। इसका तनिक भी महत्त्व नहीं है कि उसके द्वारा उत्पन्न भाव मर्यादापूर्ण अस्पष्टता का नहीं, अपितु केवल दिलचस्प है, रुचिकर है। तथ्य यह है कि सर्वोत्तम कविता में जो क्रिया नियोजित होती है, वही क्रिया यहाँ भी है। मैं मानता हूँ कि यदि आपको किसी वस्तु में असाधारण दिलचस्पी अर्थात् रुचि प्राप्त होती है, यदि आपको उसके ध्यान में अत्यधिक उत्कट आनन्द मिलता है, जो आपको उस वस्तु के सटीक वर्णन में समक्ष बनाता है तो आपकी कविता का पर्याप्त औचित्य सिद्ध हो जाता है।"

ह्यूम के अनुसार इसके लिए कवि में समझ होनी चाहिए। कालरिज ने कल्पना को सूझ से महत्त्वपूर्ण माना है। ह्यूम का मत है-

"इसी शक्ति से कवि का काम चल जाता है लेकिन वह मानता था कि सूझ साधारण उक्ति में जोड़ा हुआ अलंकार नहीं है। साधारण उक्ति तत्वत: सटीक नहीं होती है। उस उक्ति को सटीक बनाने का काम नवीन रूपकों और उत्प्रेक्षा द्वारा ही सम्भव है। यदि कहीं वस्तु की उपमा उस वस्तु की सादृश्यता से अधिक है तो वह सूझ नि:सन्देह कल्पना से हीन है। जहाँ सटीक वर्णन के लिए आवश्यक रूप में उपमा आयी है। फिर भी कोई कहता है कि इसका प्रभाव बहुत गम्भीर नहीं है। मेरे विचार से यह आक्षेप पूर्णतया गलत है। यदि सूझ सटीक है, यदि पूर्ण उपमा इस प्रकार की है कि वह अभिव्यंजनीय अनुभूति या वस्तु का ठीक-ठीक बोध करा देती है तो मेरे विचार से सर्वोत्तम कविता का सृजन हो जाता है, भले ही उसका विषय तुच्छ क्यों न हो? ह्यूम बिम्बवादी था। उसने कविता में बिम्बता को अधिक महत्त्व दिया। इसीलिए उसकी मान्यता यह थी कि कविता का उचित लक्ष्य यही है कि कवि जो देखता है, चाहे वह कोई वस्तु हो या विचार, वह उसका सटीक रूप प्रस्तुत कर दे। कविता बिम्बों और रूपकों की वस्तु है, बिम्बात्मक अभिप्राय केवल नये रूपकों द्वारा ही अन्यों तक पहुँचाये जा सकते हैं। कविता में बिम्ब केवल अलंकरण नहीं होते, अपितु वे प्रतीक भाषा के सारभूत अंश हैं।"

बिम्बवाद में भाषा का महत्त्व अधिक माना जाता है। इसका लक्ष्य वर्णन को सटीक, संक्षिप्त और निश्चित बनाना रहता है, किन्तु यह कार्य अत्यधिक कठिन होता है। केवल सावधानी से ऐसा वर्णन सम्भव नहीं है। कवि वर्णन के लिए भाषा का प्रयोग करता है। भाषा प्रकृति से जातीय अर्थात् समाज की वस्तु होती है। कवि जो देखता है, उसके सटीक वर्णन के लिए उसे भाषा से भयंकर संघर्ष करना पड़ता है, क्योंकि भाषा की अपनी जातीय प्रकृति होती है, उसकी परम्परा होती है। इसलिए कवि जब उससे अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है तो उसे भाषा को अपने लिए अनुकूल बनाना पड़ता है। उसके अनुसार कवि की अनुभूति में परिवर्तन होता रहता है। वस्तु को देखने के कवि के दृष्टिकोण में अन्तर आता रहता है। परम्परागत भाषा उसकी अनुभूति और उसके दृष्टिकोण को व्यक्त करने में सक्षम नहीं हो पाती है। अतएव वस्तु या अनुभूति के सटीक वर्णन के लिए परम्परागत भाषा का त्याग करना पड़ता है। इलियट ने भाषा का महत्त्व इसी प्रकार का स्वीकृत किया है।

ह्यूम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है-"मेरा भविष्य कथन है कि शुष्क, सख्त और क्लासिक कविता का युग आ रहा है। यह नयी कविता इस बात को प्रमाणित करेगी कि तुच्छ और शुष्क वस्तुओं में सौन्दर्य हो सकता है। इस नवीन क्लासिक कविता में कल्पना की उड़ान में भी एक संयम होगा। कवि का कार्य वैयक्तिक अभिव्यक्ति करना नहीं है। अपनी देखी हुई वस्तु या विचार का सटीक बिम्ब प्रस्तुत कर देना ही कवि का कार्य है। कलात्मक अनुभूति वस्तु का निर्माण स्वयं उसके अर्थात् कवि के द्वारा होता है। उसका निर्माण स्मृति या आशा के द्वारा नहीं होता। वह स्वयं निर्मित होती है। वह स्वयं साध्य है, न कि साधन। एक कविता रूपी कृति यान्त्रिक ऐक्य नहीं बल्कि सेन्द्रिय ऐक्य है। कविता की वस्तुनिष्ठता पर ह्यूम ने अत्यधिक बल देते हुए वैयक्तिक अनुभूति को हेय और त्याज्य माना। इसी कारण उसने जागरण काल के साहित्य की समीक्षा करते हुए लिखा है-"उस साहित्य की अर्थात् स्वच्छन्दतावादी साहित्य की मौलिक त्रुटि मानवता में पूर्णता की स्थापना करने की है। उसने व्यक्तित्व एवं उसके द्वारा उत्पन्न होने वाली अन्य बकवास को बल दिया।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम कविता में कवि के व्यक्तित्व की अपेक्षा उस वस्तु को अधिक महत्त्व देता था, जिसका वर्णन कवि कर रहा है। कविता में कवि के व्यक्तित्व का अभाव ही निर्वैयक्तिकता है। इसी को वस्तुनिष्ठ समीकरण भी कहा जा सकता है। टी.एस. एलियट का वस्तुनिष्ठ समीकरण जो आलोचना के क्षेत्र में स्थापित हुआ-उसका कारण इलियट पर ह्यूम के विचारों का प्रभाव था।

टी.एस. इलियट की आलोचना पर एजरा पाउण्ड का प्रभाव- इलियट पर जिस दूसरे सामयिक साहित्यकार का प्रभाव पड़ा, वह है-एजरा पाउण्ड। उसने (एजरा पाउण्ड ने) सन् 1915 में एक पत्र में लिखा-

"कविता को गद्य के समान ही लिखना चाहिए। कविता में घिसे-पिटे वाक्यों को नहीं होना चाहिए। इससे बचने के लिए कवि को वर्णनीय वस्तु को पूर्ण सावधानी के साथ देखना चाहिए और उसका सटीक बिम्बात्मक वर्णन करना चाहिए। उसके लिए केवल वस्तुनिष्ठता और अभिव्यक्ति आवश्यक है। कविता में ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए जो परिस्थिति विशेष में किसी भावावेशवश वस्तुतः नहीं कहा जाता है।"

इस प्रकार ह्यूम के समान एजरा पाउण्ड ने भी भाषा को ही साहित्य माना। उसने लिखा है-"महान् साहित्य संभवतम अंश में अर्थपूर्ण भाषा भर होता है।" पाउण्ड ने कवि को वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक या वस्तुनिष्ठ माना है। सन् 1910 में उसने लिखा-

"कविता इस प्रकार का प्रेरणोद्भव गणित है जो हमें त्रिभुज और क्षेत्र आदि सूक्ष्म आकृतियों का नहीं, अपितु मानवीय भावों का समीकरण प्रदान करता है। पाउण्ड का यह मत इलियट के वस्तुनिष्ठ समीकरण वाले सिद्धान्त के समान ही है। इस कथन की ध्वनि यही है कि गणितज्ञ के समान कवि अपने भावों का निवेदन नहीं करता है, अपितु उनके समान वस्तुनिष्ठ रूप प्रस्तुत करता है। उसका क्रार्य आत्मनिरपेक्ष होता है।" पाउण्ड के लिए भी कविता ह्यूम के समान ही मूल तत्त्व रूपक है।

एजरा पाउण्ड ने भी कविता में वस्तुनिष्ठ समीकरण को महत्ता दी है। कविता में कवि का अपने व्यक्तिगत भावों और मान्यताओं की अपेक्षा वर्ण्य-वस्तु को प्रधानता देना चाहिए। कवि को अपनी वर्ण्य-वस्तु पर अपने विचार और मान्यताओं को नहीं थोपना चाहिए। इसी को कवि की निर्वैयक्तिक प्रज्ञा कहा गया है। स्वच्छन्दतावादी कविता में निर्वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति अथवा आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति के प्रति विरोध का स्वर उठाया। साहित्य में नैतिक मूल्यों के निरूपण की ओर उनका ध्यान लगभग नहीं गया था।

इलियट ने समीक्षा की दो पद्धतियों का वर्णन किया है। काव्य समीक्षा की पहली पद्धति उन लोगों की है जो काव्य को समझने और समझाने के लिए उसकी जीवनी और उसके युग की विभिन्न प्रवृत्तियों, कवि की विभिन्न प्रेरणाओं आदि की खोज करते हैं। इस प्रकार के अध्ययन का संबंध कृति के मूल में अप्रत्यक्ष रूप से काम करने वाले तत्त्वों से होता है। यह साहित्य का मनोवैज्ञानिक, जीवन चरितात्मक, समाजशास्त्री अथवा वैज्ञानिक अध्ययन होगा। इलियट का मत है-

"सर्वप्रथम कालरिज ने दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र और मनोविज्ञान के नियमों को साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में प्रवेश दिलाया। आधुनिक समीक्षा को कालरिज से यही प्रणाली विरासत के रूप में मिली है। यदि कालरिज इस युग में होता तो निश्चित रूप से वह समाजशास्त्रों और भाषा एवं अर्थ विज्ञान के अध्ययनों का भी साहित्य समीक्षा में उपयोग करता।"

काव्य के बोध पक्ष से संबंधित दूसरी प्रवृत्ति उन लोगों की ही है जो कृति के शरीर का पूरा विश्लेषण करके उसे समझना चाहते हैं। आई.एम.रिचर्ड्स और उनके अनुयायियों की पद्धति इसी कोटि की है। ये लोग कवि की किसी काव्यकृति को कवि अथवा उसकी अन्य काव्यकृतियों के सन्दर्भ में बिना समझने का प्रयत्न करते हैं और ऐसा करने में उसके प्रत्येक अवयव, प्रत्येक पंक्ति का विश्लेषण करते हुए उसके अर्थ को निचोड़ने का प्रयत्न करते हैं। जैसे नींबू को निचोड़ कर उसका सारा रस निकाला जाता है, इसका प्रयत्न वैसा ही होता है। इलियट ने इस प्रकार की समीक्षा को वास्तविक समीक्षा नहीं माना है। इस निचोड़ने में कविता का सारा रस निकल जाता है। अपने अतिरेक में यह पद्धति काव्य-रस की पद्धति में बाधक होती है। कुछ सीमाओं में आवश्यकतानुसार इसकी उपयोगिता मानी जा सकती है।

उपर्युक्त समीक्षा की दो पद्धतियाँ हैं। ये दो पद्धतियाँ काव्य अथवा साहित्य की वस्तुनिष्ठ समीक्षा आलोचना के दो प्रकार हैं। एक काव्योद्भव अर्थात् काव्य की उत्पत्ति के मूलभूत कारणों की छानबीन करने को प्राथमिकता देती है अर्थात् वह कविता अथवा साहित्य को कवि के संबंध में जानकारी जुटाकर समझने का प्रयत्न करती है। उनका आग्रह काव्य के कारण के अध्ययन पर होता है। दूसरे का क्षेत्र कवि नहीं, कृति के अध्ययन का है। इलियट उन दोनों को सीमा के भीतर उपयोगी मानते हैं।

इसके साथ-साथ उस बात पर भी विचार आवश्यक है, जिस पर इलियट ने विशेष बल दिया है। इलियट ने कहा है-

"हम अरस्तू की ओर लौट नहीं सकते और हम कालरिज के पूर्व की समीक्षा संबंधी स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु अपने युग की समीक्षात्मक क्रिया को अति-पीड़ित होने से बचाने के लिए हमें निरन्तर यह प्रश्न पूछना चाहिए कि किस दिशा में समीक्षा साहित्यिक समीक्षा न होकर कुछ और हो जाती है।"

यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। इसके उत्तर में ही समीक्षा अर्थात् आलोचना के शुद्ध रूप की झाँकी है और साहित्य का स्वास्थ्य है। इलियट ऐसे पहले पाश्चात्य समीक्षक हैं, जिन्होंने इस प्रश्न के महत्त्व को इतने सशक्त रूप में उभारा है। उत्तर भी उन्होंने दिया है। उनका कहना है कि साहित्यिक समीक्षक और उन समीक्षकों में जिन्होंने साहित्य समीक्षा की सीमा का अतिक्रमण किया है, यह अन्तर नहीं है कि साहित्यिक समीक्षक केवल साहित्यिक होता है, उसका संबंध अन्य प्रकार के ज्ञान से नहीं होता है। जो समीक्षक साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी में रुचि अथवा संबंध न रखेगा, वह साहित्य समीक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी समीक्षा दोष के कारण कही हुई समीक्षा होगी।

कवि का संबंध कविता के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ज्ञान से भी होता है, अन्यथा उसकी कविता शून्य मात्र होगी। कवि इसलिए कवि है कि वह कविता में अपने अनुभवों और विचारों को ढालता है। अनुभव करना और विचार करना कविता से भिन्न कवि कर्म है। इससे प्रकट होता है

कि कवि का संबंध कविता के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ज्ञान से भी होता है। कवि के समान ही समीक्षक अर्थात् आलोचक में भी साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषय में रुचि अथवा संबंध होना चाहिए। आलोचक को पूरा मानव होना चाहिए, उसे जीवन का अनुभव और ज्ञान होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साहित्य का समीक्षक जीवन विषयक विभिन्न ज्ञानों तथा अनुभवों का उपयोग अवश्य करेगा। वह ऊपर बतायी गयी वस्तुनिष्ठ समीक्षा की दोनों प्रवृत्तियों का उपयोग कर सकता है। वह साहित्यिक समीक्षक इसलिए है और ऊपर बताये गये असाहित्यिक समीक्षकों से इस बात में भिन्न है कि अन्य व्यक्तियों को साहित्य का बोध कराने और साहित्य के आनन्द की उपलब्धि कराने को अपना प्रमुख लक्ष्य मानता है। यदि उसने इस लक्ष्य को पा लिया तो वह उपर्युक्त पद्धतियों का उपयोग करते हुए भी उन असाहित्यिक समीक्षकों से भिन्न है।

डॉ. भगीरथ दीक्षित ने इस मान्यता को स्वीकार करने पर जो प्रश्न उठाया है और इलियट के द्वारा बताया हुआ जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है-

> *"प्रश्न उठेगा कि इस लक्ष्य की प्राप्ति का प्रमाण क्या है? वह कौन-सी कसौटी है, जिससे यह निश्चित किया जा सके कि अमुक आलोचक ने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया अथवा यह शुद्ध कर्म में साहित्यिक आलोचक है।"*

इसके उत्तर में इलियट ने बड़े पते की बात कही है-"कविता में महत्त्वपूर्ण उसकी अनुभूति अथवा भाव है। यह कविता में आनन्द पाने योग्य विभिन्न युगों और भाषाओं के सभी मनुष्यों में समान रूप से होती है। इसलिये मेरे मत में आलोचक वह है जो हमें यह देखने योग्य बना दे, जिसे हमने कभी नहीं देखा था अथवा आग्रहपूर्ण दृष्टि से देखा था। जो मुझे उसके ठीक सामने अवस्थित करके मुझे उसके साथ अकेला छोड़कर हट जाये। इसके बाद मुझे अपनी संवेदना शक्ति, बुद्धि और विद्वता की सामर्थ्य पर ही निर्भर रहना चाहिए।"

तात्पर्य यह निकला कि समीक्षक का मत यह है कि पाठक को कृति के अनुद्घाटित अथवा पूर्वाग्रह से आच्छादित रूप को केवल उद्घाटित कर दे। वह अर्थात् आलोचक पाठक को वह सब कुछ बता दे, जिसके सहारे वह कृति की आत्मा के सम्मुख खड़ा हो जाये। ऐसा करने में चाहे वह कवि विषयक जीवन सामग्री प्रस्तुत करे अथवा कृति के कलेवर की अर्थ पर आधारित व्याख्या कर दे। वह काव्य-रस का आस्वादन पाठक पर ही छोड़ दे।

यदि आलोचक काव्यकृति में व्यक्त देश-काल-व्यक्ति निरपेक्ष सामान्य मानवीय अनुभूति को पाठक की सम्वेदना शक्ति और बुद्धि के सम्मुख रख देने में सफलता प्राप्त कर लेता है तो समझो उसने अपना काम समाप्त कर दिया। उसका अन्तिम आस्वादन पाठक के द्वारा ही होना चाहिए। पाठ के रूप में समीक्षक भी प्रथम आस्वादन करता है, किन्तु समीक्षक के रूप में आस्वादन का कार्य उसे पाठकों के लिए छोड़ देना पड़ता है।

काव्य के दो पक्ष होतें हैं-वस्तुपक्ष और भावपक्ष। भाव वस्तु में व्याप्त होता है। आलोचक वस्तु को अपनी स्वतंत्र आलोचना संबंधी शक्ति के आधार पर इस रूप में पाठक के सम्मुख रख दे कि इसमें निहित भाव पाठक के हृदय और बुद्धि के सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठें। ये भाव सामान्य मानवीय भाव होते हैं। उन्हें अपने सामने पाकर पाठक का हृदय उन्हें ग्रहण कर लेगा और उनका रसास्वादन कर सकेगा। इलियट का स्पष्ट मत है और आपको गलत मानने का कोई कारण नहीं है कि अधिकांश महान् कविताएँ अनुभूति की वस्तुएँ होती हैं। उन्हें समझाया नहीं जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इलियट ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों प्रकार के काव्य अध्ययनों को काव्यास्वादन के लिए अनिवार्य माना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इलियट आलोचना में वस्तुनिष्ठ समीकरण का पक्षपाती रहा है। इलियट ने अपने युग के लिए यह विशेष वरदान दिया था।

टी.एस. इलियट का जन्म अमेरिका में हुआ था। उसका पूरा नाम थॉमस स्टीयर्न्स इलियट था। वह अंग्रेजी भाषा का कवि, नाटककार, पद्यकार, सिद्धान्तकार और समालोचक था। उसका स्थिति काल सन् 1888 से 1965 है। तात्पर्य यह है कि इलियट का जन्म सन् 1888 में हुआ और उसकी मृत्यु सन् 1965 में हुई। इलियट की समालोचनात्मक रचनाएँ उनके भाषणों और निबंधों के संकलन हैं।

इलियट के समय में अंग्रेजी आलोचना में अनेक नवीन धाराओं का उन्मेष हुआ। इलियट ने नवीन अलोचना को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। उन्नीसवीं शताब्दी तक अंग्रेजी साहित्य में रोमानी एवं मानवतावादी भावनाओं और अवधारणाओं का पर्याप्त प्रचलन हुआ। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इन दोनों का विरोध आरम्भ हो गया था। टी.एस. इलियट ने जब आलोचना जगत में पदार्पण किया तो इस विरोध को अधिक गति मिली। 'संवेदनशीलता का असाहचर्य' शब्द अथवा इस शब्द का भाव अस्तित्व में आया। संवदेन और संवेदना का अर्थ है-अनुभूति, संवेदनशीलता का अहसाहचर्य का अर्थ हुआ-अनुभूति का सहचर न होना, अनुभूति का साथ न देना।

संवेदनशीलता का असाहचर्य अथवा अनुभूति का साथ न देने की बात 'रोमानी एवं मानवतावादी' भावना के ही प्रसंग में आयी। रोमानी और मानवतावादी साहित्य में कवि का व्यक्तित्व प्रधान रहता था, वर्ण्य-वस्तु अथवा विषय का नहीं। इसी को संवेदना का असाहचर्य कहा गया है। जिन लोगों ने रोमांस और मानवतावाद का विरोध किया उनका कहना था कि कवि और आलोचक को अपनी संवेदना अथवा संवेदनशीलता का सहचर नहीं होना चाहिए, उसे वर्ण्य-वस्तु पर ध्यान देना चाहिए, उसे वस्तुनिष्ठता का सहचर होना चाहिए। यही बात आलोचना के विषय में है। किसी रचना के विषय में आलोचक को यह स्पष्ट करने के स्थान पर कि अमुक रचना अथवा पुस्तक उसको कैसी लगी, इसके स्थान पर उसे यह व्यक्त करना चाहिए कि यह रचना अथवा पुस्तक शास्त्रीय दृष्टि से कैसी है?

टी.एस. इलियट पर अपने समय के दो आलोचकों टी.ई. ह्यूम और एजरा पाउण्ड का बहुत प्रभाव है। इन दोनों ने भी प्रकारान्तर से अथवा दूसरे शब्दों के माध्यम से संवेदनशीलता के साहचर्य का विरोध किया।

टी.ई. ह्यूम की मान्यता- टी.ई. ह्यूम से उनके युग के नवयुवक अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में 15 वर्षों में अर्थात् सन् 1901 से 1915 तक ह्यूम ने डार्विन के विकासवाद पर जो मान्यताएँ आधरित थीं, उनका प्रबल रूप से विरोध किया। विकासवाद के अनुसार यह मान्यता थी कि वनस्पति जगत् और प्राणि जगत् में विकास की निरन्तरता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों का सदा विकास होता रहा है और होता रहेगा। डार्विन यह भी मानता था कि नैतिकता और धर्म भी मानवता अर्थात् मनुष्य समूह की विकास प्रक्रिया की ही उपलब्धियाँ हैं। इस मान्यता के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व विषयक मत का कोई आधार नहीं है। डार्विन ने यह प्रमाणित किया कि छोटे-मोटे परिवर्तनों के सहारे सृष्टि का विकास होता आया है और इसी सिद्धान्त के आधार पर आगे भी मानव सृष्टि विकसित होती हुई पूर्णता की ओर जा रही हैं। ह्यूम ने इस मत का विरोध किया है। ह्यूम ने अपने लेख 'रोमाण्टिसिज्म एण्ड क्लासिसिज्म' में व्यक्त किया कि सृष्टि में प्रत्येक जाति छोटे-मोटे परिवर्तनों के सहारे क्रमिक रूप से नहीं, अपितु सहसा अस्तित्व में आ जाती है। ह्यूम ने जो कुछ कहा है, उसमें से इलियट को समझने के लिए निम्नलिखित दो बातें आवश्यक हैं-

पहली बात यह है कि ह्यूम मनुष्य की शक्ति सीमित नहीं मानता है। उसमें पूर्णता की सम्भावना है। ह्यूम मनुष्य की शक्ति को असीम मानने के साथ-साथ उसमें असीमित सम्भावनाएँ उभरने का विश्वास करते हैं। दूसरी बात मनुष्य में परम्परा और व्यवस्था द्वारा अच्छाई उत्पन्न करने की है। ह्यूम का मत है कि जिस प्रकार मनुष्य निरपेक्ष रूप में जन्म नहीं लेता, अपितु वह किन्हीं माता-पिता की सन्तान होता है। इसी प्रकार साहित्य के विषय में भी मनुष्य सबसे हटकर अलग नहीं रह सकता है। साहित्य के क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति का मत लगभग सम्पूर्ण रूप से पूर्व के साहित्य के इतिहास का मत है। वह चाहे जो सोचे, वह उस साहित्य के इतिहास के मत से शासित होगा। सौन्दर्य निर्णय के विषय में कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष रूप से नहीं रह सकता।

इन दो बातों के अतिरिक्त ह्यूम ने रोमाण्टिसिज्म के रोमेण्टलिटी के विरोध में अपना जो मत प्रस्तुत किया है, इलियट पर उसका भी प्रभाव है। ह्यूम के अतिरिक्त इलियट पर एजरा पाउण्ड का भी प्रभाव है। इस विषय में डॉ. भगीरथ दीक्षित की मान्यता इस प्रकार है-

"इलियट पर जिस दूसरे सामयिक साहित्यकार का प्रभाव पड़ा है, वह है-एजरा पाउण्ड। संक्षेप में एजरा पाउण्ड के भी कुछ मतों को देख लेना इलियट को समझने में सहायक होगा। उसने सन् 1915 ई. में एक पद्य में लिखा है कि कविता को गद्य के समान ही लिखना चाहिए। कविता में घिसे-पिटे वाक्यांश नहीं होने चाहिए। इससे बचने के लिए कवि को वर्णनीय वस्तु को पूर्ण अवधान के साथ देखना चाहिए और उसका सटीक बिम्बात्मक वर्णन करना चाहिए। उसके लिए केवल वस्तुनिष्ठता और अभिव्यक्ति जरूरी है। कविता में ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए जो परिस्थिति विशेष में किसी भावावेशवश वस्तुतः नहीं कहा जा सकता।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम के समान पाउण्ड भी भाषा को ही साहित्य मानने के पक्षधर हैं। एजरा पाउण्ड के अनुसार महान् साहित्य संभवतम अंश में अर्थपूर्ण भाषा भर होता है। पाउण्ड के अनुसार कवि को वैज्ञानिक के समान वस्तुनिष्ठ अथवा निर्वैयक्तिक होना आवश्यक है। एक स्थान पर पाउण्ड ने कविता को प्रेरणा से उत्पन्न गणित कहा है। गणित जहाँ त्रिभुज एवं क्षेत्र आदि आकृतियों को समीकरण प्रदान नहीं करता, अपितु मानवीय मतों का समीकरण देने में समर्थ होता है। पाउण्ड का यह मत और इलियट का वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त लगभग एक है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि कवि का भाव निवेदन गणित के समान न होकर वस्तुनिष्ठ होता है। कवि के कार्य को निरपेक्ष कह सकते हैं।

इलियट के संबंध में अनेक स्थान पर संवेदन अथवा संवेदना शब्द आता है। अगर संवेदना और वस्तुनिष्ठता को जोड़ दें तो संवेदनशीलता का असाहचर्य हो जाता है। संवेदनशीलता का असाहचर्य और वस्तुनिष्ठता में विशेष अन्तर नहीं है। संवेदनशीलता का असाहचर्य वास्तव में अंग्रेजी के वाक्यांश 'डिसएसोसिएशन ऑफ सेन्सीबिलटी' का हिन्दी अनुवाद है। यह शब्द अंग्रेजी से हिन्दी से आया है। इसके अन्य विद्वानों ने भी अनुवाद किये हैं, जो आपस में मिलते नहीं हैं। डॉ. सत्यदेव मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र "अधुनातन सन्दर्भ में' 'डिसएसोसिएशन ऑफ सेन्सीबिलिटी' का अनुवाद जिस प्रसंग में किया है, वह उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है-

"संवेगों अथवा भावों को कला में अभिव्यक्त करने का एकमात्र ढंग है-वस्तुनिष्ठ समीकरण की प्राप्ति। दूसरे शब्दों में वस्तुओं, स्थितियों और घटनाओं की श्रृंखला को इस ढंग से संयोजित करना कि वे विशिष्ट से सम्बद्ध होकर अभिव्यक्त हो सकें अथवा वे बाह्य वस्तुएँ विशष्ट संवेगों को तुरन्त आहूत कर सकें। वस्तुनिष्ठ समीकरण की इस अवधारणा को इलियट ने अपने निबन्ध 'हेमलेट एण्ड हिज प्राब्लम' में घटित किया है। उन्होंने वस्तुनिष्ठ समीकरण को दृष्टिपथ में रखकर ही शेक्सपियर के नाटक 'हेमलेट' को उच्चकोटि की कलाकृति

नहीं माना है, क्योंकि 'हेमलेट' की मानसिक स्थिति को प्रस्तुत करने के लिए शेक्सपीयर ने अपेक्षित स्वीकृत वस्तुओं का प्रयोग नहीं किया है।"

इलियट ने कविता अथवा रचना के शैली शिल्प अथवा कथ्य के विषय में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, वह कवि की अवैयक्तिकता अथवा निर्वैयक्तिकता को प्रभावित करने में समर्थ है। इसे इलियट का नवीन प्रयास भी कह सकते हैं, जिसे विचित्र प्रयास कहना अधिक युक्तिसंगत है। इस सिद्धान्त कथन में ऐसा प्रतीत होता है कि इलियट पर फ्रांस के प्रतीकवादियों का पर्याप्त प्रभाव है। जिस प्रकार प्रतीकवादी काव्य में अभिव्यक्ति के स्थान पर भावों का आहूत किया जाना अर्थात् बुलाना उचित मानते हैं उसी प्रकार की धारणा इलियट की भी है।

भाव बोध वियोग, सम्वेदनशीलता का असाहचर्य अथवा निर्वैयक्तिकता की चर्चा न करते हुए डॉ. सत्यदेव मिश्र ने 'डिसएसोसिशएन ऑफ सेन्सीबिलिटी' का अनुवाद भावबोध वियोजन जिस गद्यांश में प्रयुक्त किया है, वह इस प्रकार है-

"इलियट ने दूसरे अवधारणात्मक वाक्यांश भावबोध-वियोजन का प्रयोग Selected Essays *नामक निबंध संग्रह में संकलित निबंध* The Metaphysical Poets *में किया है। इस निबंध में उन्होंने 17वीं शती के उत्तरार्द्ध (मैटाफिजिकल कवियों के बाद) में अंग्रेजी कविता में घटित होने वाले एक विशेषीकृत दोष का उल्लेख किया है और वह दोष है-भाव एवं बोध अर्थात् हृदय और बुद्धि का वियोजन, पृथक्करण। उनके अनुसार स्वच्छन्दतावादी एवं विक्टोरियन कवियों (कॉलरिज, स्विनवर्न, आर्नाल्ड आदि) की कविताओं में यह दोष व्याप्त है। इसकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि बुद्धि और भावना के उस समन्वित महत्त्व को नहीं समझ पाये हैं, जिसके कारण विगत युगों में (17 वीं शती के प्रारम्भ तक अर्थात् मैटाफिजिकल कवियों तक) विराट् काव्य का सृजन हो सका। कहना यह है कि मैटाफिजिकल कवियों के बाद इलियट के अनुसार अंग्रेजी कविता में भावबोध-एकीकरण का स्थान भावबोध वियोजन ने ले लिया है जो कलात्मक दृष्टि से इलियट के अनुसार साहित्य में घटित होने वाली नितान्त घातक दुर्घटना है।"*

इलियट ने भावबोध वियोजन अथवा संवेदनशीलता के असाहचर्य के आधार पर किसी रचना को बुरा और भावबोध एकीकरण के आधार पर किसी रचना को भला काव्य कहा है तथा यही इनके भले और बुरे होने की पहचान बतायी है। भावबोध से इलियट का आशय विचार की प्रत्यक्ष सौन्दर्यानुभूति से अथवा विचार को भावना में ढालने से है। टी.एस. इलियट के अनुसार विचार की प्रत्यक्ष अनुभूति इन्द्रिय अनुभूति होती है, वह अनुभूति वेपमेन और जॉन डन नामक कवियों के काव्य में पायी जाती है। इसी कारण उनकी रचनाएँ श्रेष्ठ काव्य के आदर्श समझे जाते हैं। इन दोनों कवियों की कविता पूर्णशक्ति अर्थात् बुद्धि और हृदय अथवा भाव और ज्ञान को एकीकृत करके विरचित की गयी है। इन दोनों कवियों ने विचारों को भावना में बदलकर प्रस्तुत किया है। इसलिए वे सहृदय पाठक को रसपान करने में पूर्णरूप से सफल हो जाते हैं।

इलियट का तात्पर्य यह है कि कवि को अपने विचारों को भावना में परिवर्तित करना चाहिए। जो कवि ऐसा करने में सफल नहीं हो पाता इसी का परिणाम है-भाव का वियोजन अथवा संवेदनशीलता का असाहचर्य। इलियट की दृष्टि में इस प्रकार का काव्य श्रेष्ठ नहीं है। इसी आधार पर टी.एस. इलियट ने टेनीसन और ब्राउनिंग की कविताओं के सन्दर्भ में भावबोध वियोजन अर्थात् संवेदनशीलता के असाहचर्य की बात कही है। इलियट का तात्पर्य यह है कि टेनीसन और ब्राउनिंग की कविताओं में ज्ञान अथवा बोध और भाव अथवा हृदय के टुकड़े-टुकड़े करके अर्थात् अलग-अलग करके प्रस्तुत किया गया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इन कवियों ने अपने विचार तो प्रकट किये हैं, पर ये अपने विचारों को इन्द्रियबोध के आधार पर प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे

हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ये कवि अपने भावों को विचारों में परिवर्तित नहीं कर सके हैं अथवा इनके विचार भाव बनकर सहृदय पाठकों अथवा श्रोताओं को रसपान नहीं करा पाये हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इलियट कविता की रचना प्रक्रिया को ठीक से समझ नहीं पाये हैं। भारतीय मान्यता के अनुसार कविता की रचना हृदय के भावों से होती है, मस्तिष्क बुद्धि के विचारों से नहीं। कला भी बुद्धि या मस्तिष्क के विचारों से नहीं, हृदय की भावुकता से होती है। बुद्धि के विवेचन का विषय दर्शन और आलोचना है। बुद्धि अथवा मस्तिष्क के विचार किसी को सन्तुष्ट तो कर सकते हैं, रसमान करने की सामर्थ्य इनमें नहीं रहती। ऐसा नहीं है कि हृदय धड़कने वाला मांसपिण्ड है जो सीने में रहता है और मस्तिष्क का निवास शीश में है। वास्तव में दोनों ही एक सचेत धमनी के दो सिरे हैं।

इलियट का संवेदनशीलता के आसहचर्य का तात्पर्य यह है कि कलाकार या कवि अपनी रचना को आधार देते समय जो कुछ सोचे वह सरस और दूसरों को रसमान करने वाला होना चाहिए। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रस की कल्पना या मान्यता नहीं है, इसी कारण इलियट को यह कहना पड़ा है। भारतीय मान्यता के अनुसार तो रसात्मक काव्य ही काव्य होता है। रस के अभाव में कोई मस्तिष्क अथवा कलाकृति श्रोता अथवा पाठक और दर्शक को रस मान नहीं करा सकती। अन्तर केवल इतना ही है कि इलियट ने रसमान के स्थान पर आनन्दमान करने की बात कही है।

इलियट की यह बात भी इसी सन्दर्भ में है कि कलाकार की कलाकृति में और कवि की रचना में कलाकार और कवि के व्यक्तित्व का अभाव होना चाहिए। इसी को भारतीय काव्यशास्त्र ने साधारणीकरण कहा है।

आई.ए. रिचर्ड्स, आलोचना के क्षेत्र में मूल्य और सम्प्रेषण के प्रबल पक्षपाती थे। उन्होंने कला और कविता की श्रेष्ठता का आधार सम्प्रेषण को ही स्वीकार किया है। उनके कथन का तात्पर्य यह है-

> *"सम्प्रेषण की दृष्टि से कलाएँ (कविता की) उसका सर्वोत्कृष्ट रूप होती हैं। मनुष्य सामाजिक जीव है। वह सदा से अपने अनुभवों को दूसरों के प्रति सम्प्रेषण करने और दूसरों के अनुभवों को जानने के लिए प्रवृत्त रहा है। अपने विकास-क्रम में मनुष्य ने अपनी इस सम्प्रेषण प्रक्रिया के लिए कतिपय साधन उपलब्ध कर लिये हैं। कलाएँ इनमें सर्वाधिक महती रूप वाली हैं।"*

कलाकार को (कवि को भी) रिचर्ड्स ने सम्प्रेषक कहा है। किसी भी कलाकार की कला का सम्प्रेषण पक्ष उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग होता है-

"सम्प्रेषण का कार्य अत्यन्त कठिन होता है। सम्प्रेषण ठोस वस्तु के समान नहीं होता है। कलागत (कवितागत) सम्प्रेषण भी वहीं सम्भव होता है, जहाँ एक मस्तिष्क अर्थात् कलाकार का मस्तिष्क अपने परिवेश पर ऐसा प्रभाव डालता है अथवा उसका संयोजन करता है कि दूसरा मस्तिष्क अर्थात् दर्शक या श्रोता उससे प्रभावित हो उठता है। उस दूसरे मस्तिष्क अर्थात् दर्शक या श्रोता के मस्तिष्क की स्थिति ठीक पहले मस्तिष्क अर्थात् कलाकार अथवा कवि के मस्तिष्क की स्थिति के अनुरूप हो जाती है।

किसी वस्तु अथवा स्थिति के पूर्ण अवबोध के लिए कलाकार में (कवि में भी) जागरूक निरीक्षण शक्ति होनी चाहिए। कलाकार में साधारणता का भी गुण होना चाहिए। उसके अनुभव अन्य व्यक्तियों के अनुभव के मेल से प्रस्तुत होकर ही सम्प्रेषणीय हो सकते हैं।"

रिचर्ड्स के अनुसार कलाकृति और कविता की प्रतिक्रियाएँ एकरस होनी चाहिए। उनमें भिन्नता नहीं होनी चाहिए तथा वे उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न किये जाने योग्य हों। रिचर्ड्स ने कलाकार के साधारण होने पर विशेष बल दिया है। इसके अभाव में उसकी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् वस्तु का सम्प्रेषित होना कठिन हो जायेगा, क्योंकि औसत स्तर से ऊपर या कम होने से ग्राहक उसे ग्रहण ही नहीं कर पायेगा। किसी रचना अर्थात् कविता की परीक्षा करने के लिए समीक्षक को विषय का पूर्ण बोध होना चाहिए। वह सम्प्रेषण की सफलता की परीक्षा तभी कर सकता है, जब वह रचना को सम्यक् रीति से पढ़ना जानता हो।

क्रोचे ने सम्प्रेषण को अनिवार्य न बताकर उसे एक व्यावहारिक तथ्य माना है, जबकि रिचर्ड्स इसे कला से बहिर्गत मानकर कला का एक धर्म मानते हैं, क्योंकि सौन्दर्य-अनुभूति की सफलता सम्प्रेषण पर ही आश्रित है। कलाकार और कवि की सफलता की कसौटी भी यही है कि वह जो कहना चाहता था, उसे दूसरों तक सम्प्रेषित कर सकता है या नहीं। सम्प्रेषणीयता से पृथक् रहकर कला का उद्देश्य सार्थक नहीं हो सकता। पाठकों में ग्राहिका-शक्ति का होना भी एक अपेक्षित बात है।

रिचर्ड्स ने कहा है-"कविता के सम्प्रेषण का माध्यम है-भाषा। भाषा के संबंध में भी रिचर्ड्स ने पर्याप्त विचार किया है। उसके अनुसार भाषा के दो भेद होते हैं-तथ्यात्मक और रागात्मक। कवि वैज्ञानिक के समान तथ्यों का शोध नहीं करता, अपितु वह तो रागात्मक अवस्थाओं की सर्जना करता है। भाषा कुछ ऐसे प्रतीकों का समूह है, जो श्रोता और पाठक के मन में, कवि के मन के अनुरूप मनःस्थिति को उत्पन्न कर दे। रिचर्ड्स के अनुसार शब्द अपने में पूर्ण या स्वतंत्र नहीं होते। नाद, शब्द-पहचान, भाव-विचार-प्रसंग आदि भी उनके साथ जुड़े रहते हैं।

आई.ए. रिचर्ड्स ने भाषा का जो रागात्मक भेद बताया है, वह वास्तव में रागात्मक अर्थ है। तथ्यात्मक भाषा का अर्थ तथ्यों का ज्ञान कराना होता है। कविता की भाषा तथ्यात्मक अनुभूति न कराके रागात्मक अनुभूति कराती है। यही भाषा का रागात्मक अर्थ है। यह रागात्मक अर्थ कविता की भाषा का ही हो सकता है, क्योंकि कविता मनुष्य के मन में राग अर्थात् प्रेम अथवा लावण्य का भाव उत्पन्न करती है। यह कार्य कविता भाषा के रागात्मक अर्थ के द्वारा पूर्ण करने में सफल होती है।

आई.ए. रिचर्ड्स भाषा को ऐसे प्रतीकों का समूह मानते थे जो श्रोता अथवा पाठक के मन में कवि अथवा साहित्यकार के मन के अनुभवों के अनुरूप स्थिति उत्पन्न कर दे। इस प्रकार भाषा की प्रतीकात्मकता वक्ता और श्रोता के मध्य अखण्ड मानसिक व्यापार का सूत्रपात करती है।

डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त ने भाषा के विषय में लिखा है- "भाषा के प्रभाव के अनेक स्तर हैं। सबसे निम्न स्तर में श्रोता या पाठक केवल नाद से अवगत होता है। ध्वनियों के विभेद के साथ ही श्रोता के मन में विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। इसके उपरान्त शब्दों को पहचानने की आवश्यकता आती है। इन शब्दों की सहायता से अत्यन्त सरल तथा साधारण तथ्यों का ही बोध कराया जा सकता है। विचार और जीवन के अनुभव अधिकाधिक जटिल होते जाते हैं, अतः इनके प्रकाशन और ग्रहण के लिए अधिक जटिल प्रतीकों का प्रयोग होने लगता है। कुछ ऊपर उठकर भाषा का वह स्तर आता है, जिसमें रूपकों का प्रयोग किया जाता है। रूपकों में दो या दो से अधिक पक्षों का समावेश होता है। अतः इसके द्वारा हम थोड़े में अधिक कह सकते हैं।"

रिचर्ड्स शब्द को स्वतंत्र और स्वतः पूर्ण नहीं मानते। शब्दों का अर्थ प्रसंग के अन्तर्गत उद्घाटित होता है। पर प्रसंग का रिचर्ड्स ने परम्परागत अर्थ नहीं लिया है, बल्कि प्रसंग की कल्पना में ऐसे नवीन तत्त्वों का समोवश किया है, जिनका संबंध मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र से होता है।

कविता में लय का कारण भाषा- रिचर्ड्स कविता के लिए लय को अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार लय केवल ध्वनियों की व्यवस्था नहीं है, उसमें गम्भीर भावनाएँ और शब्दों के अर्थ भी नियोजित रहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि लय की स्थिति केवल ऊपरी धरातल पर ही नहीं रहती, उसका विकास मन और भाषा की गहराई में होता है। प्रत्येक शब्द के अनेक सम्भावित प्रभाव होते हैं, जो उसके प्रयोग की स्थिति के अनुसार अलग-अलग होते हैं।

भाषा में ऊपरी लय तो भाषा के शब्दों के द्वारा आती है, पर आन्तरिक लय का कार्य भाषा का रागात्मक अर्थ ही करता है। कविता में बाह्य अथवा ऊपरी लय के लिए भी कोमल ध्वनि या नाद वाले शब्दों की आवश्यकता होती है। कोमल नाद या उच्चारण वाले शब्द निश्चित रूप से रागात्मक अर्थ वाले होंगे। कोमल नाद वाले शब्द राग अथवा प्रेम के अतिरिक्त उग्र अथवा कठोर भाव उत्पन्न नहीं कर सकते। इस प्रकार स्पष्ट है कि ऊपरी और आन्तरिक लय की दृष्टि से तथा मन में कोमल भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से भाषा के रागात्मक अर्थ की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कविता का भाषा के रागात्मक अर्थ से घनिष्ठ संबंध है।

आई.ए. रिचर्ड्स ने कहा है- "आज जब प्राचीन परम्पराएँ एवं आस्थाएँ समाप्त हो रही हैं, मूल्यों का विघटन हो रहा है तो सभ्य समाज कविता के सहारे ही अपनी मानसिक व्यवस्था बनाये रख सकता है, क्योंकि काव्य से ही व्यक्ति और समाज में मानसिक संतुलन बढ़ता है।"

जार्ज सण्डायना ने अपने आनन्दवादी दृष्टिकोण की व्याख्या में सौन्दर्य और आनन्द का अनिवार्य संबंध स्वीकार किया है। उनका कहना है कि सौन्दर्य से आनन्दानुभूति होती है। सण्डायना के मत को अस्वीकार करते हुए रिचर्ड्स ने कहा है कि आनन्दमूलक भावनाओं का संबंध सौन्दर्य से नहीं होता। आनन्द से अनेक स्त्रोत तथा प्रकार होते हैं। रिचर्ड्स यह नहीं मानते कि मानव मन में कोई विशेष सौन्दर्यपरक भावना होती है, इसीलिए हमें सौन्दर्य से आनन्द की प्राप्ति होती है। तर्क और मनोविज्ञान दोनों किसी स्वतंत्र सौन्दर्य भावना के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर पाते। सौन्दर्य, कला तथा जीवन का निकटवर्ती एवं अनिवार्य संबंध है।

भाषा के संबंध में भी रिचर्ड्स के विचार अत्यन्त मौलिक हैं। वस्तुत: कॉलरिज के उपरान्त इंग्लैण्ड के मौलिक चिन्तकों एवं काव्यशास्त्रियों में रिचर्ड्स ही उल्लेख करने योग्य हैं। उन्होंने मनोविज्ञान, भाषा विज्ञान और अध्यात्मक दर्शन के आलोक में अपने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना की है। रिचर्ड्स के अनुसार कविता का मूल्य उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है। जो कविता पाठक को जितना अधिक प्रभावित करेगी, वह उतनी ही अधिक उत्कृष्ट मानी जायेगी। जो कविता भाषाविषयक व्यवस्था तथा सन्तुलित मनोवृत्ति के उपयुक्त होगी, वही कल्याण करने वाली सिद्ध होगी।

रिचर्ड्स का कथन है-"मन आवेगों का तन्त्र अर्थात् सिस्टम है। विचित्र आवेगों अर्थात् इम्पल्स के कारण सन्तुलन भंग हो जाता है। मन में सन्तुलन लाने के लिए यह आवश्यक है कि वे आवेग व्यवस्थित होकर एक स्वर हो जायें। मानव जीवन में ऐसे सन्तुलन और असन्तुलन बराबर होते रहते हैं। काव्य और कला का प्रयोजन ही यह है कि वे आवेगों में सन्तुलन स्थापित करके, उन्हें ऐसा व्यवस्थित कर दें कि भावुक को विश्रान्ति की अनुभूति हो।"

रिचर्ड्स के अनुसार सौन्दर्य एक विशेष प्रकार का मूल्य है। यह मूल्य निरपेक्ष अर्थात् एबसोल्यूट वेल्यू है। मानव मन में निरन्तर आवेगों की उत्पत्ति होती रहती है। उन आवेगों में से कुछ आवेग परस्पर सम्बद्ध होते हैं और कुछ अनुकूल होते हैं। उदाहरण के लिए हर्ष और गर्व को एक दूसरे से सम्बद्ध और एक-दूसरे के अनुकूल कहा जा सकता है। कुछ आवेग ऐसे भी होते हैं जो परस्पर विरोधी और प्रतिकूल होते हैं, जैसे-भय और हर्ष। सौन्दर्य के प्रभाव से इन सभी प्रकार के मनोवेगों में पारस्परिक सामंजस्य सम्भव होता है।

सौन्दर्य से उत्पन्न यह आनन्दप्रद मनोदशा न तो वह निष्क्रिय अवस्था है, जिसमें समान विरोधी प्रभावों की खींचतान के कारण हम स्तब्ध तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाया करते हैं। पहले प्रकार के आवेग प्रवृत्तिमूलक होते हैं तथा दूसरे निवृत्तिमूलक। कुछ एषणाएँ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं तथा कुछ कम महत्त्व वाली होती हैं। रिचर्ड्स उन एषणाओं को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं, जो अन्य एषणाओं को कम-से-कम अवरुद्ध अथवा विनष्ट किये बिना अपना अस्तित्व सुरक्षित रखती हैं। मन की सबसे काम्य स्थिति वह है, जिसमें संघर्षरत सभी आवेग सन्तुष्ट होकर शान्त हो जायें। यह लगभग असम्भव है। दूसरी काम्य स्थिति वह है, जिसमें एषणाओं का अल्पमत संघर्ष, काट-छाँट, हनन और नियमन होता है। इनमें एषणाएँ कम से कम दलित किये बिना नियोजित हो जाती हैं। अधिकतम आवेग सन्तुष्ट होते हैं और न्यूनतम आवेग कुण्ठित होते हैं।

कला का मूल्य भी इसी बात में है कि वह हमारे आवेगों में संगति और सन्तुलन स्थापित करे, हमारी अनुभूतियों अर्थात् सेन्सीबिलटीस के क्षेत्र को व्यापक बनावे। रिचर्ड्स की दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन एक ऐसी मनःस्थिति उत्पन्न कर देना है, जिसमें आवेगों का सन्तुलन होने के साथ-साथ बाह्य-क्रिया के हेतु तत्परता उत्पन्न हो जाये।

काव्य के प्रभाव और प्रयोजन के संबंध में रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित मूल्य संबंधी सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

(1) *कला अन्य मानव व्यापारों से संबंधित है, उनसे अलग अथवा भिन्न नहीं है।*

(2) *मानव की क्रियाओं में कला सबसे अधिक मूल्य वाली है।*

(3) *किसी भी मानव क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि वह मनोवेगों में कहाँ तक सुव्यवस्था तथा सन्तुलन उत्पन्न कर पाती है। हमारी अनुक्रियाओं अर्थात् रस्पोन्सेज में मानी गयी है।*

उनका कहना है कि अमुक वस्तु सुन्दर है तो हम अपनी मनःस्थिति का वस्तु पर प्रक्षेपण करते हैं। इसलिए उन्होंने सौन्दर्य शब्द के आधार पर अनुभूति मूल्य शब्द का प्रयोग किया है और इस मूल्य की सत्ता उद्दीपन में न मानकर अनुक्रियाओं में मानी है।

रिचर्ड्स की इस मान्यता की आलोचना जान कोरेन्सन तथा थियोडीर मेयर ग्रीन जैसे आलोचकों ने की है। उनके अनुसार रिचर्ड्स के मत को स्वीकार करने पर काम्य वस्तु का चयन निरर्थक हो जायेगा। स्वयं रिचर्ड्स ने भी एक अन्य स्थल पर उद्दीपन को वस्तु में सन्तुलित विराम का गुण माना है। त्रासदी की प्रशंसा इसी बात की द्योतक है कि वस्तु की विशेषता को भी वे महत्त्व देते हैं। सौन्दर्य का विषयगत होना से भी प्रमाणित होता है कि सुन्दर वस्तु सौन्दर्यभोगी पर अबाध शक्ति से प्रभाव डालती है। सौन्दर्य ऐसी विशेषता है जो अलग-अलग वस्तुओं पर अबाध शक्ति से प्रभाव डालती है। सौन्दर्य ऐसी विशेषता है कि जो अलग-अलग वस्तुओं में अलग-अलग मात्रा में प्राप्त होती है। अजन्ता के भित्तिचित्र गाँव के घरों की दीवारों पर अंकित रंगीन चित्रों से निश्चित रूप से अधिक सुन्दर हैं। अतः सौन्दर्य को न तो पूर्णरूप से विषयीगत माना जा सकता है और न विषयगत स्वीकार किया जा सकता है। इन दोनों मतों में आंशिक सत्य है।

विज्ञान और ललित कलाओं के पारस्परिक संबंध और भेद पर काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से आज तक अनेक विद्वानों तथा आलोचकों ने प्रकाश डाला है। रिचर्ड्स ने भी अपनी वस्तुओं 'प्रिन्सीपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' और 'साइन्स एण्ड पोइट्री' में इस प्रश्न पर विचार किया है। रिचर्ड्स ने लिखा है-

"प्रत्येक कथन में वस्तुओं की ओर निर्देश किया जाता है। जब निर्दिष्ट वस्तुएँ सच्ची होती हैं और उनके मध्य निर्दिष्ट संबंध भी सच्चा होता है तो इस कथन को वैज्ञानिक कथन कहा जाता

है। उदाहरण के रूप में जब हम किसी कथन में यह निर्देश करते हैं कि आग के ताप से वायु हल्की होकर ऊपर उठती है तो हम यहाँ दो सच्ची वस्तुओं तथा उनके सच्चे संबंध की बात करते हैं। इस आधार पर यह कथन वैज्ञानिक माना जायेगा। इसके विपरीत यदि किसी कथन में निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा और झूठा होना महत्त्वपूर्ण न हो और न उन निर्दिष्ट वस्तुओं के बीच निर्दिष्ट संबंध ही महत्वपूर्ण हों, अपितु वह कथन हमारे भावों और अन्तर्वेगों को जागृत करे तो ऐसे छद्म कथन को हम साहित्य कहेंगे।

कविता का संबंध बौद्धिक सत्य से नहीं होता, अपितु रागात्मक क्रिया से होता है। हमारी भावनाओं को जो बात जँचती है तथा जो बाद विरोधी प्रतीत नहीं होती, वही काव्य सत्य है।

काव्य के इस रागात्मक सत्य की उत्पत्ति कविता की भाषा प्रस्तुत करती है। भाषा में दो प्रकार के अर्थ होते हैं-एक तथ्यात्मक अर्थ और दूसरा रागात्मक अर्थ। तथ्यात्मक अर्थ दर्शन, इतिहास आदि का विषय है और रागात्मक अर्थ कविता का विषय है। कवि जब किसी नायिका अथवा युवती के मुख को चन्द्रमा के समान बताता है तो यहाँ तथ्यात्मक अर्थ नहीं होता, क्योंकि किसी भी स्त्री का मुख चन्द्रमा के समान प्रकाश करने वाला नहीं हो सकता। यहाँ भाषा का रागात्मक अर्थ ही लिया जा सकता है। बिहारी का यह दोहा इसका प्रमाण है-

पन्ना ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्यो ही रहै, आनन ओप उजास॥

यदि इसका तथ्यात्मक अर्थ लेंगे तो संगति नहीं होती। किसी भी स्त्री का मुख ऐसा नहीं हो सकता कि उससे प्रकाश निकलता रहे तथा घर के आस-पास ज्योत्सना फैली रहे। पूरा घर नहीं, पूरा मोहल्ला प्रकाशित रहे। किसी भी रात में दीपक जलाने अथवा प्रकाश का अन्य साधन प्रयोग करने की आवश्यकता न पड़े। इसका रागात्मक अर्थ ही लेना पड़ेगा, इस प्रकार इस दोहे का तात्पर्य होगा कि अमुक युवती अत्यधिक गौर वर्ण वाली है।

इस प्रकार का रागात्मक अर्थ श्रृंगारी कवियों की कविताओं में ही नहीं, भक्त कवियों की कविताओं में भी लेना पड़ता है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की सगुण धारा की रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा विरचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड के पुष्पवाटिका प्रसंग को लिया जा सकता है। राम और लक्ष्मण अपने गुरु विश्वामित्र जी की पूजा के लिए फूल लेने हेतु मिथिला के राजा जनक जी की पुष्पवाटिका में गये। सीता जी भी अपनी सखियों के साथ गौरी का पूजन करने के लिए वहीं पर आयीं। गौरी का मन्दिर पुष्पवाटिका में ही स्थित था। राम ने सीताजी को देखा। सीता जी उन्हें बहुत सुन्दर प्रतीत हुईं। वे अपने भाई लक्ष्मण को सीता जी का परिचय देते हुए कहने लगे-

तात जनक तनया यह सोई, धनुष जग्य तेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखी लै आई, करति प्रकास फिरइ फुलबाई।
जहँ विलोक मृग सावक नैनी, तहँ सृजाइ कमल सत सैनी।

यदि इन पंक्तियों का तथ्यात्मक अर्थ लेंगे तो संगति नहीं बैठेगी। इन पंक्तियों का शब्दार्थ इस प्रकार है-

"हे प्रिय लघु भ्राता! यह वही जनक पुत्री है, जिसके कारण धनुष यज्ञ का आयोजन हो रहा है। यह अपनी सखियों को साथ लेकर गौरी का पूजन करने के लिए आयी है। यह फुलवाड़ी में प्रकाश करती हुई घूम रही है। हिरन के बच्चे के नयनों के समान बड़ी-बड़ी आँखों वाली सीता जहाँ भी देखती है, वहाँ सौ कमलों की पंक्ति बना देती है। तात्पर्य यह है कि सीता की दृष्टि जहाँ पड़ती है, वहाँ ऐसा जान पड़ता है, मानो कमल के सौ पुष्प एक पंक्ति में रखे हों।"

इन पंक्तियों का रागात्मक अर्थ लेकर यही समझा जा सकता है कि सीता जी का रंग अत्यधिक गोरा और उनकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं। सीता जी दिन में अर्थात् प्रातःकाल के समय पुष्पवाटिका में आयी थीं। दिन में कहीं भी प्रकाश करना सम्भव नहीं है, क्योंकि सूर्य के प्रकाश के कारण सभी धीमे पड़ जाते है। यही बात कमलों की पंक्तियों के निर्माण की है। कितनी भी सुन्दर आँखें हों, अपनी चितवन से कमलों का निर्माण नहीं कर सकतीं। कविता में तथ्यात्मक अर्थ लेने पर संगति नहीं होती, इसमें तो रागात्मक अर्थ आनन्द प्रदान करता है।

संवेगों के सन्तुलन की बात आई.ए. रिचर्ड्स ने कलाकार और कवि के समर्पण के प्रसंग में कही है। कलाकार और कवि का अपने संवेगों का सन्तुलन करना ही उसका समर्पण है। इसे निर्वैयक्तिकता भी कहा जा सकता है। कलाकार और कवि कलाकृति की रचना करते समय तथा कविता का निर्माण करते समय अपने व्यक्तिगत संवेगों में सन्तुलन स्थापित करता है। एक प्रकार से वह कलाकृति और रचना के प्रति समर्पण कर देता है।

इस विषय में डॉ. भगीरथ दीक्षित ने लिखा है-

"रिचर्ड्स का मत है कि समीक्षा सिद्धान्त का विशेष संबंध काव्यकृति की समर्पण क्रिया और उसके मूल्य की विवेचना से रहता है। तात्पर्य यह है कि समीक्षक के सम्मुख मुख्य रूप से दो प्रश्न रहते हैं-एक तो यह कि कृति के द्वारा समर्पण किस कोटि का हो सका है और दूसरा प्रश्न यह है कि कलाकार ने जिसका समर्पण करना चाहा है, उसका मूल्य क्या है? बस इन्हीं दो प्रश्नों का उत्तर देना समीक्षक का प्रमुख कर्त्तव्य है। इस स्थल पर आपत्ति उठाई जा सकती है कि क्या कला को समर्पण मानना उचित है? क्या कला की रचना करते समय कलाकार को और कविता की रचना करते समय कवि को अपने सवैयों (छन्दों) का सन्तुलन करना चाहिए? क्या कला की रचना करते समय कलाकार को और कविता की रचना करते समय कवि को निर्वैयक्तिक होना चाहिए?

इसके उत्तर में रिचर्ड्स का स्पष्ट कथन है-

"कलाएँ मनुष्य की समर्पणात्मक क्रिया का उत्कृष्ट रूप होती हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी होता है। वह सहस्त्रों वर्षों से समर्पण करने में अभ्यस्त है। अपने अनुभवों एवं अनुभूतियों को अन्यों तक पहुँचाने और अन्यों के अनुभवों एवं अनुभूतियों को जानने में उसे प्रकृतितः अर्थात् स्वाभाविक रूप से रुचि होती है। इतना ही नहीं, अपितु सहस्त्रों वर्षों से अपने मानवीय विकास की सम्पूर्ण यात्रा में समर्पणात्मक क्रिया का अभ्यस्त होने के कारण ही मनुष्य के मस्तिष्क का गठन बहुत कुछ निर्धारित होता रहा है। यह ठीक है कि समर्पण क्रिया के पूर्व ही हमारे मानस में भाव या अनुभव अथवा संवेग उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि उनके उत्पन्न होने में समर्पण का हाथ नहीं होता है, किन्तु उसका रूप बहुत कुछ इस तथ्य पर निर्भर रहता है कि हमें उन्हें अन्यों तक पहुँचाना है। मानवता ने अपनी प्रगति के साथ-साथ समर्पण के कतिपय साधन उपलब्ध कर लिये हैं। कलाएँ उनमें से सर्वाधिक उत्कृष्ट हैं। अतएव कला की सफलता इस मत के अनुसार उसके साधनत्व की सफलता पर निर्भर है। यह सफलता किस प्रकार की है और इसके लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है, इस पर विचार करने से पूर्व हमें इस बात पर विचार कर लेना चाहिए कि क्या कलाकार समर्पण की भावना से ही रचना में प्रवृत्त होता है और यदि वह ऐसा करता है तो इसका परिणाम क्या होता है?"

इस विषय में रिचर्ड्स का मत अत्यधिक उपयुक्त है। उनका मानना है-"यद्यपि कलाकार को समर्पक मानना सर्वाधिक कल्याणकार है, परन्तु यह मानना सत्य नहीं है कि कलाकार भी सामान्यतया ऐसा ही मानता है। जिस समय वह रचना करने में व्यस्त होता है, उस समय वह समर्पण

के सजग और सायास प्रयत्न में प्रवृत्त नहीं रहता है। यदि उस समय कोई उससे पूछे तो कदाचित् वह यही उत्तर देगा कि उसके लिए समर्पण का विचार असम्बद्ध या अत्यन्त गौण है। वह जो कुछ इस निर्मित्त कर रहा है, वह स्वयं सुन्दर है, उसके द्वारा उसे वैयक्तिक सन्तुष्टि मिलती है अथवा वह यह कहे कि मैं अपने भावों को व्यक्त कर रहा हूँ। अन्य लोग उसकी कृति को पढ़ेंगे और उससे अनुभूति प्राप्त करेंगे, यह तत्त्व उसे आकस्मिक और गौण प्रतीत हो सकता है। वह यह भी कह सकता है कि मैं केवल मनोविनोद कर रहा हूँ।

कृति का समर्पण पक्ष महत्त्वपूर्ण- रिचर्ड्स की मान्यता है कि कलाकार चाहे जो माने अथवा कहे, इससे कृति के समर्पण पक्ष का महत्त्व कम नहीं होता है, क्योंकि कलाकार के अचेतन मन में यह पक्ष निरन्तर बना रहता है। रचना-काल में यदि कलाकार के सम्मुख समर्पण की भावना उभरी रहे तो वह निम्न कोटि का कलाकार भी सिद्ध हो सकता है। समर्पण की सजग भावना से उत्कृष्ट कृति का निर्माण करना असम्भव नहीं, अपितु कठिन अवश्य होता है। इस कार्य में महान् प्रतिभासम्पन्न कलाकार ही सफल होते हैं। सामान्यतया जब कलाकार सर्जन-क्रिया में प्रवृत्त होता है, उस समय उसका ध्यान रचना-विषयक अन्य तत्त्वों में लीन हो जाता है, परन्तु समर्पण का भाव अचेतन में पड़ा रहता है और मन की चेतन क्रिया की अपेक्षा अचेतन क्रिया अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

कला का प्रयोजन समर्पण- कवियों के चेतन मन के अनुभवों के आधार पर यह मान लेना ठीक नहीं है कि कलाकार का प्रयोजन समर्पण नहीं होता है। जब हम यह देखते हैं कि कलाकार निरन्तर निर्वैयक्तिकता की ओर अर्थात् संवेगों के सन्तुलन की ओर उन्मुख होने का प्रयत्न करते हुए कृति का ऐसा गठन करने में प्रवृत्त होता है कि उसमें उसकी एकान्तिक विशिष्टता अलग रहे सके अर्थात् वह अपने संवेगों का सन्तुलन कर सके और आधार रूप में तत्व आ जाये, जिनका मानवी संवेगों पर एक समान प्रभाव पड़ता है। जब हम यह देखते हैं कि केवल कलाकार को सन्तुष्ट करने वाली तथा साथ ही अन्यों के लिए अबोधगम्य कृति अत्यन्त विरल होती है और जब हम यह देखते हैं कि कलाकार अपनी कृति के प्रकाशन में रुचि लेते हैं तो यह मानना कठिन है कि समर्पण की भावना कलाकार में नहीं होती।

कलाकार को इसके अर्थात् समर्पण के लिए कई गुणों की आवश्यकता पड़ती है। अब हम यह देखेंगे कि वे कौन-से गुण हैं जो कलाकार को सफल समर्पण में योग प्रदान करते हैं। साधारण व्यक्ति और कलाकार का सर्वाधिक महान् अन्तर अनुभव के विस्तार, उसकी कोमलता ओर उसके विभिन्न तत्वों में संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता में निहित रहता है। तात्पर्य यह है कि कलाकार का अनुभव साधारण व्यक्ति के अनुभव की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं कोमल होता है और उस अनुभव के विभिन्न तत्वों में संबंध स्थापित करने में वह अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता का उपयोग करता है।

ड्राइडन ने लिखा है- *"शेक्सपीयर के सम्मुख प्रकृति के सभी रूप प्रस्तुत थे और उसने सायास नहीं, अपितु संयोगवश उन्हें पा लिया। भूतकाल के किसी अनुभव की ऐसी ही उपलब्धि रिचर्ड्स के अनुसार कलाकार के लिए आवश्यक है।"*

परन्तु अतीत को उसके सम्पूर्ण विवरण के साथ अर्थात् समर्पण रूप में याद कर लेने में कोई काम नहीं होता है, उलटे उसके द्वारा हानि होने की आशंका रहती है। ऐसी दशा में जो कुछ आवश्यक है, उसमें से व्यक्तिगत और असम्बद्ध तत्वों को अलग रखना कठिन होता है। जिन व्यक्तियों के मानस में अतीत अपने समग्र रूप में याद आता है, वे सम्भवत: पागलखाने में दिखाई देते हैं। अतएव कला के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह भूतकाल के किसी अनुभव को अपने मानस में ज्यों-का-त्यों याद रखे, अपितु आवश्यक यह है कि वह अपने मानस में अतीत को स्वतंत्र रूप

से पुनः प्रस्तुत करे। किसी अनुभव को पुनः प्रस्तुत करने के लिए यह याद रखना आवश्यक नहीं है कि वह कहाँ, कैसे और कब उपलब्ध हुआ, अपितु केवल मन को उस अपूर्व दशा की उपलब्धि अनुभव हो जानी चाहिए।

पुनः उपलब्धि मन के संवेगों पर निर्भर- मन की इस पूर्व-दशा की पुनः उपलब्धि अनुभव के क्षणों में उत्पन्न होने वाले संवेगों पर निर्भर करती है। जब तक वैसे ही संवेग उत्पन्न न हों, तब तक अतीतकालीन उस मनोदशा की प्राप्ति नहीं हो पाती है। हम जानते हैं कि उस पूर्व-अनुभव के क्षणों में कतिपय संवेग उत्पन्न होते हैं। अतएव यदि इनमें से कुछ संवेग उत्पन्न हो जायें तो वह पूर्व-अनुभव या मनोदशा प्राप्त हो सकती है। यही कारण है कि जिस मनोदशा में अपेक्षाकृत अधिक संवेगों का योग रहता है, उनके पुनः प्रस्तुत होने की सम्भावना अधिक रहती है। संक्षेप में रिचर्ड्स के कहने का तात्पर्य यह है कि किसी अतीतकालीन मनोदशा की पुनः उपलब्धि की सुलभता के लिए यह आवश्यक है कि अनुभव के उस काल में अधिक संवेग क्रियाशील रहे हों। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति का अनुभव या मनोदशा जितनी व्यापक होगी, उसे उसकी पुनः प्राप्ति उतनी ही सुगमता से हो सकेगी। अतः अनुभव की व्यापकता का कलाकार के लिए अत्यधिक महत्व है।

भूतकाल के संवेग- भूतकाल के बहुत से संवेग विभिन्न मनोदशाओं के समय उठे रहे होंगे, इसलिए यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब उन्हें उनमें से कुछ संवेग वर्तमान में उत्पन्न हो जायें तो उनके कारण भूतकाल की कौन-सी मनोदशा आगत होने में समर्थ होगी। इसके उत्तर में रिचर्ड्स ने कहा था-

> *"जिस मनोदशा के अवसर पर ये संवेग अपेक्षाकृत अधिक संगठित रहे, उसके पुनः प्रस्तुत होने की कौन-सी सम्भावना अधिक रहेगी। अतएव अनुभव के समय कलाकार में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने विभिन्न संवेगों की व्यवस्थित संघटना कर सके। तात्पर्य यह है कि उसे स्थिति का पूर्ण बोध होना चाहिए। स्थिति के पूर्ण बोध के लिए यह आवश्यक है कि वह उसकी विवेचना करे, बल्कि आवश्यक यह है कि वह उस स्थिति को सम्पूर्ण रूप में रखकर इस संगतिपूर्ण ढंग से उनकी प्रतिक्रिया व्यक्त करे कि उसके अवयवों को उस प्रतिक्रिया में उचित अंश और स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। तात्पर्य यह है कि कवि को चाहिए कि वह किसी स्थिति के विभिन्न अवयवों का उचित अंश में बोध करता हुआ उस स्थिति को अखण्ड रूप में ग्रहण करे, क्योंकि वस्तु का ठीक बोध तब प्राप्त होता है, जब हम उसके विभिन्न तत्वों का उचित अंश में बोध करते हुए पूर्ण वस्तु को ग्रहण करने में समर्थ हों।"*

कलाकार की निरीक्षण शक्ति- वस्तु अथवा स्थिति के पूर्ण बोध के लिए कलाकार में जागरूक निरीक्षण शक्ति होनी चाहिए। ऐसी दशा में रिचर्ड्स का मत है कि स्नायु पद्धति (सामान्य भाषा में मस्तिष्क) बाह्य चेतना के अत्यधिक अनुकूल, विवेकपूर्ण और व्यवस्थित प्रतिक्रिया करती है। अतः हम कह सकते हैं कि तीव्र जागरूक निरीक्षण के समय प्राप्त मनोदशा की पुनः उपलब्धि की सर्वाधिक संभावना रहती है। पुनः उपलब्धि के समय भी ऐसे ही जागरूक निरीक्षण की आवश्यकता रहती है। प्राचीन समीक्षा पद्धति में इस दशा को समाधि कहा जाता है।

कलाकार और साधारणता- कलाकार के लिए उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त जिस अन्य महत्त्वपूर्ण गुण की आवश्यकता है, वह है-साधारणता। कारण यह है कि जब तक उसके अनुभव उन अन्य व्यक्तियों के अनुभव में मेल नहीं होते हैं, जिन तक अपना अनुभव उसे पहुँचाना है, तब तक समर्पण का कार्य पूरा नहीं हो सकता। जातीय और वर्गीय सीमाओं के भीतर अधिकांश मानवीय संवेग सर्वसाधारण में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। सफल समर्पण के लिए यह आवश्यक है कि

अधिकांश संवेग और उनके विभाव दोनों कलाकार और जिन तक वह अपना अनुभव पहुँचाना चाहता है, उन लोगों में समान रूप से क्रियाशील हों।

जहाँ कहीं थोड़ा-बहुत अन्तर होता है, वहाँ कल्पना की सहायता से समर्पण के योग्य बनाया जा सकता है। रिचर्ड्स के अनुसार कल्पना मन की कोई रहस्यपूर्ण क्रिया नहीं है। वह मन की अन्य क्रियाओं के समान ही होती है। कुछ संवेगों के सक्रिय हो जाने पर अन्य संवेग भी अपने बाह्य कारणों के अभाव में भी जाग्रत हो जाते हैं। उन्हीं संवेगों को रिचर्ड्स कल्पना मानते हैं। चाहे इन संवेगों द्वारा बिम्ब उत्पन्न हो या न हो, क्योंकि कल्पना का मौलिक कार्य बिम्ब निर्माण करना नहीं है।

इन संवेगों का कुछ अंश तो पूर्व-अनुभव के क्षण में संवेदित होने वाले संवेगों पर निर्भर होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्व अनुभव के समय जो संवेग उत्पन्न हुए थे, उन्हीं में से कुछ वर्तमान अनुभव में उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि उनके बाह्य कारण प्रस्तुत नहीं रहते हैं। ऐसे संवेगों को आवृत्यात्मक कल्पना कहते हैं। परन्तु कुछ संवेग वर्तमान परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें रिचर्ड्स रूपात्मक कल्पना कहते हैं। वर्तमान परिस्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। हम जानते हैं कि परिवर्तित मनोदशा में हम पूर्वकाल में देखे हुए किसी दृश्य की याद करते हैं तो उसका रूप अधिक परिवर्तित होने लगता है।

कल्पना का आधार- हमारी कल्पना का आधार भूत-काल और वर्तमान-काल दोनों होते हैं। कलाकार को ऐसे साधनों का ज्ञान होना आवश्यक है जो कि ग्राहक की अनुभूति का इस प्रकार नियमन अथवा सन्तुलन करता रहे कि उसकी अर्थात् ग्राहक की कल्पना इन दूसरे प्रकार के संवेगों (तात्पर्य उपर्युक्त रूपात्मक और कल्पनागत संवेगों से है), के द्वारा जाग्रत और शासित हो, न कि प्रथम प्रकार के संवेगों (अर्थात् आवृत्यात्मक कल्पना) द्वारा, क्योंकि ये संवेग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न होंगे।

इस प्रकार निष्कर्ष यह रहा कि प्रत्येक कला का आधार कुछ ऐसे संवेगों का वर्ग होता है, जो असाधारण रूप से एकरस होते हैं और जो कलाकृति का मूल ढाँचा निर्मित करते हैं। इसके अन्तर्गत अन्य प्रकार की प्रतिक्रियाएँ विकसित होती रहती हैं। अत: संवेग के लिए रिचर्ड्स के अनुसार तीन बातों का होना आवश्यक है-

(1) *कलाकृति की प्रतिक्रियाएँ एकरस होनी चाहिए।*

(2) *वे पर्याप्त रूप से विभिन्न प्रकार की हों।*

(3) *अपने उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न किये जाने योग्य हों।*

यही कारण है कि कलाकार को साधारण होना चाहिए, ताकि सर्वसाधारण उसके अनुभवों को ग्रहण कर सके। यदि कलाकार के मानस का गठन इस प्रकार का है कि वह अन्यों से नितान्त भिन्न हो जाये, तो ऐसी दशा में समर्पण नहीं हो सकता। सम्भव है कि कलाकार जो समर्पित कर रहा है, वह अधिक मूल्यवान् और वह औसत मानवीय स्तर से इतना ऊपर हो कि हम उसकी बात ग्रहण करने में असमर्थ हों।

ऐसी दशा में यदि हम उसका अनुकरण कर सकते हैं, तो उसको स्वीकार करना चाहिए। यदि उसका अनुकरण हमारे वश में नहीं है, तो चाहे वह कितना ही मूल्यवान् क्यों न हो, हमारे लिए वह उपेक्षणीय होना चाहिए। क्या अच्छा है और किसका अनुकरण करना चाहिए-ये दोनों बातें आवश्यक रूप से एक नहीं हैं। रिचर्ड्स ने कुछ रहस्यवादी साहित्यकारों को ऐसा ही एकान्तिक व्यक्ति माना है, जिनकी बातों को हम व्यवहार में ढाल सकने में असमर्थ हैं। क्या वे सर्वथा त्याज्य

हैं? क्या हम जैनेन्द्र की 'सुनीता', भगवतीचरण शर्मा की 'चित्रलेखा', अज्ञेय की 'नदी की द्वीप' आदि रचनाओं और इनके कथाकारों को इस कोटि में नहीं रख सकते?

अब समर्पण विषयक एक प्रश्न पर विचार करना शेष रह गया है। समीक्षक यह कैसे जान सकता है कि किसी कलाकृति के द्वारा सफल समर्पण हो सका है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में रिचर्ड्स का कहना है कि समीक्षक समर्पण की सफलता-असफलता की जाँच तभी कर सकता है, जब वह कलाकृति को ठीक ढंग से पढ़ना जानता हो, क्योंकि रिचर्ड्स यह मानते हैं कि उपयुक्त प्रकार के अध्ययन द्वारा ही पाठक कृति को समझ सकता है। अतएव बड़ी सावधानी और संवेदना शक्ति के सहारे कृति का अध्ययन वांछनीय है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए कठिन परिश्रम और शिक्षण की आवश्यकता है। साहित्यिक कृति का सारा मूल्य इसी अध्ययन पर निर्भर है। यदि पाठक में ग्रहण करने और कृति को समझने की उपयुक्त क्षमता नहीं है तो वह उसका मूल्य गलत आँक सकता है।

यही कारण है कि रिचर्ड्स ने समीक्षकों एवं साधारण पाठकों के मार्गदर्शन के लिए प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म (क्रियात्मक आलोचना) तथा मीनिंग ऑफ मीनिंग (अर्थ का अर्थ) नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किये। कविता कृति की व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिए, इसे बड़े परिश्रम और कौशल से रिचर्ड्स ने स्पष्ट किया है। उनके अनुयायी श्री एम्पसन ने इस प्रकार की व्याख्यात्मक समीक्षा को अत्यधिक महत्व देते हुए इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया है।

डॉ. भगीरथ दीक्षित ने कहा है कि मैं केवल इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि इस प्रकार की व्याख्या मूलवती ही नहीं, कृति को समझने के लिए अनिवार्य है। यदि कोई इसे अति तक खींच कर न ले जाये तो इसके रसास्वादन में बाधा उत्पन्न होगी। अत: ऐसे व्याख्यात्मक अध्ययन का सीमा के भीतर ही महान् उपयोग है। इलियट ने भी इस व्याख्यात्मक अध्ययन के तरीके को अहितकर माना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आई.ए. रिचर्ड्स संवेगों के सन्तुलन के पक्षपाती हैं। कलाकार कलाकृति की रचना के समय और कवि कविता की रचना के समय संवेगों से पूर्ण होता है। कलाकार अपनी कला के द्वारा और कवि अपनी कविता के द्वारा अपने संवेगों को दर्शक और पाठक तक पहुँचाना चाहता है। ऐसा वह जान-बूझकर नहीं करता। यह कार्य चेतन मन अथवा मस्तिष्क का नहीं, अपितु अवचेतन का होता है। फिर भी कलाकार और कवि दोनों को अपने संवेगों पर सन्तुलन रखना चाहिए। सन्तुलित संवेग ही कलाकार और कवि की भावना को दर्शक और श्रोता तक पहुँचाने में सफल होंगे। इस प्रकार कलाकार की कलाकृति और कवि की कविता-रचना सार्थक हो सकेगी। संवेगों के सन्तुलन का नाम ही निर्वैयक्तिकता है। कलाकार और कवि के संवेग केवल अपने नहीं रहते, वह कला और कविता के द्वारा अपने संवेग दर्शक और पाठक तक पहुँचाना चाहता है। प्रत्येक कलाकार चाहता है कि दर्शक उसकी कलाकृति को पसन्द करे, उसकी प्रशंसा करे। इसी प्रकार प्रत्येक कवि चाहता है कि पाठक उसकी कविता को पढ़कर और श्रोता उसकी कविता को सुनकर पसन्द करे और उसकी प्रशंसा करे। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जब कलाकार कलाकृति की रचना के समय और कवि काव्य की रचना के समय अपने संवेगों पर सन्तुलन रख सके। वे अगर अपने संवेगों को दर्शक और पाठक के संवेग नहीं बना सकते तो उन्हें सफल नहीं कहा जा सकता। 'कला, कला के लिए' के पक्षपाती कलाकारों की मान्यता है कि हमने कला अथवा कविता की रचना कर दी। कोई उन्हें पसन्द करे या न करे, हमें चिन्ता नहीं है। रिचर्ड्स 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी थे, इसलिए उन्होंने कलाकार और कवि को अपने संवेगों पर सन्तुलन रखने का परामर्श दिया है।

आइवर आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स अर्थात् आई.ए. रिचर्ड्स या रिचर्ड्स को आधुनिक काव्यशास्त्र की परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। रिचर्ड्स वैज्ञानिक थे, इसलिए उन्होंने अपने काव्य सिद्धान्त और आलोचना के मानदण्ड मनोविज्ञान और वैज्ञानिक विवेचन पर आधारित रूप में प्रस्तुत किये थे। उनकी आलोचना के आधार काव्य-मूल्य और सम्प्रेषण के सिद्धान्त हैं। इस विषय में माया अग्रवाल का कहना है-

"इन्होंने (आई.ए. रिचर्ड्स ने) अपनी वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को साहित्य समीक्षा (आलोचना) में समाहित करके नई आभा को विकीर्ण किया है। ये मनोविज्ञान से साहित्य के क्षेत्र में आये हैं। अतः इनकी समीक्षा पद्धति मनोवैज्ञानिक तर्कों पर आश्रित है। वैज्ञानिक उन्नति एवं भौतिक समृद्धि के सन्दर्भ में कविता का अवमूल्यन ही नहीं हुआ, अपितु उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ा आभासित होने लगा। कतिपय विद्वानों ने कविता की इस अंधकारपूर्ण स्थिति की शंका का निवारण करने का जो प्रयास किया, उनमें आई.ए. रिचर्ड्स का स्थान निजी विशेषता रखता है। रिचर्ड्स ने मानव सभ्यता एवं उसके मानसिक सन्तुलन के लिए कविता की अनिवार्यता घोषित की और यह प्रतिपादित किया कि आज के मूल्य में विघटन युग में कविता ही व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा कर सकती है।"

माया अग्रवाल का यह कथन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की उस मान्यता पर आधारित प्रतीत होता है जो उन्होंने अपने 'कविता क्या है?' निबन्ध में प्रस्तुत की है। शुक्लजी के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है-

"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है, या हो सकती है। इस अनुभूत योग के अभ्यास से हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक रूपात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है, जबकि इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाये। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आ रही है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल रूप से सीधा संबंध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषम या आलम्बन बनाने के लिए मूल रूपों में और व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे मूल इन मार्मिक रूपों में नहीं लाये जाते, तब तक उन पर काव्य-दृष्टि नहीं पड़ती।"

रिचर्ड्स ने अपनी समीक्षा का आधार जिन दो तत्त्वों-काव्य मूल्य और सम्प्रेषणीयता-को माना है, उन पर क्रमशः विचार कर लेना उचित होगा।

(1) **काव्य का मूल्य-** रिचर्ड्स के अनुसार काव्य का मानक मानवीय क्रियाओं के सामान्य मानों से पृथक् नहीं होता। साहित्य एक मानवीय प्रक्रिया है, अतः उसका मूल्य-निर्धारण करने वाले तत्त्व का मान वे ही हो सकते हैं जो मानवीय क्रियाओं के लिए अपेक्षित होते हैं। इनके अनुसार कविता का मूल्य मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है। जितनी अधिक सम्प्रेषणीयता किसी रचना में होगी, वह रचना उतनी ही उत्कृष्ट कोटि की कही जायेगी। इसके अनुसार मन का अर्थ

है-मनोवेगों की क्रियाशीलता, शिराविषयक व्यवस्था। मन के आवेग इसकी व्यवस्था को भंग करते हैं। कला का प्रयोजन है-मानव मन के आवेगों में संगति और सन्तुलन स्थापित करना।

रिचर्ड्स के काव्य मूल्य के संबंध में डॉ. भगीरथ दीक्षित का कथन है- "रिचर्ड्स का कहना है कि जिस प्रकार चिकित्सकों का कार्य शरीर-स्वास्थ्य से संबंधित रहता है, उसी प्रकार समीक्षकों का संबंध मन के स्वास्थ्य से रहता है। जनता के तन और मन दोनों के स्वास्थ्य का महत्त्व है। यदि चिकित्सक अपने कर्म की उपेक्षा करता है तो तन-शरीर के ह्रास की अधिक सम्भावना रहती है और यदि समीक्षक इस बात पर विचार नहीं करता कि किस साहित्यिक कृति से जनमानस को स्वास्थ्य उपलब्ध होगा और किसके द्वारा उसे क्षति पहुँचेगी तो जनमानस के विकृत होने की महती आशंका बनी रहेगी। अतएव समीक्षक को साहित्य-मूल्य का बोध होना चाहिए और उसके आधार पर उसे समीक्षा करनी चाहिए।"

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह 'साहित्यिक मूल्य अथवा काव्य मूल्य कहा है?' इसका उत्तर आई.ए. रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के आधार पर ही मूल्य का सामान्य मान प्रस्तुत किया है। मनुष्य संबंधी गतिविधियों के अन्य क्षेत्रों में मूल्य का जो मान व्यवस्थित है अथवा माना जाता है, वही साहित्य के क्षेत्र में भी मान्य होना चाहिए। उसके सामान्य मान माने जाने का यही आधार है। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि अनेक मूल्य मान स्वीकार किये जायें।

अब आवश्यकता इस बात को जानने की है कि आई.ए. रिचर्ड्स के अनुसार वे साहित्यिक मूल्य क्या हैं, जिन्हें उसने मनोवैज्ञानिक आधार पर मान्य किया है। रिचर्ड्स की मान्यता यह है कि साहित्य के मूल्य का अलग से कोई विशेष मान नहीं होता है। यह निश्चित है कि साहित्य की रचना मनुष्य से संबंधित क्रिया है। मनुष्य ही साहित्य की रचना करता है। इस आधार पर साहित्य के मूल का मान वही होना चाहिए जो मनुष्य संबंधी अन्य क्रियाओं का होता है।

रिचर्ड्स की काव्य-मूल्य संबंधी मान्यता के विषय में डॉ. कृष्णदेव शर्मा ने अपनी बात मौलिक रूप से इस प्रकार प्रस्तुत की है-

"काव्य के सन्दर्भ में मूल्यों की चर्चा करते हुए रिचर्ड्स ने सर्वप्रथम सौन्दर्य की बात कही है। रिचर्ड्स के अनुसार सौन्दर्य काव्य का सर्वथा निरपेक्ष मूल्य है। जीवन में बहुविधि आवेगों की स्थिति सर्वविदित है और इन आवेगों के मध्य समतोलन (संतुलन) और असमतोलन (असंतुलन) बराबर बना रहता है। मनुष्य के मन में तरह-तरह के मनोवेग उत्पन्न होते रहते हैं और उन मनोवेगों के मध्य व्यवस्था तथा समतोलन अत्यन्त आवश्यक है। विरोधी मनोवेगों को व्यवस्थित करने तथा उनमें समतोलन उत्पन्न करने का श्रेय सौन्दर्य को होता है और कदाचित् इसीलिए रिचर्ड्स ने सौन्दर्य को अत्यधिक मूल्यवान स्वीकारा है। मानवीय मनोवेगों की चर्चा करते हुए रिचर्ड्स ने मुख्यत: दो तरह के मनोवेगों की सत्ता स्वीकार की है-प्रवृत्तिमूलक मनोवेग और निवृत्तिमूलक मनोवेग। मानव मन इन्हीं परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों वाले मनोवेगों से आक्रान्त रहता है। कला इन विरोधी मनोवेगों में सन्तुलन और व्यवस्था स्थापित करती है। रिचर्ड्स के शब्दों में, "कला का मूल्य भी इसी बात में है कि वह हमारे आवेगों में संगति और सन्तुलन स्थापित करे, हमारी अनुभूतियों के क्षेत्र को व्यापक बनावे। साहित्य मनुष्य को परस्पर सहयोग के लिए प्रेरित करता है। साहित्य का प्रयोजन एक ऐसी मन:स्थिति उत्पन्न कर देना है, जिसमें आवेगों का सन्तुलन होने के साथ-साथ बाह्य क्रिया के लिए तत्परता हो जाये।"

(2) **सम्प्रेषणीयता**- इसे अंग्रेजी में 'कम्यूनिकेबिलिटी' कहा जायेगा। इसका तात्पर्य आगे बढ़ाना, प्रेषित करना आदि हुआ। कवि अथवा साहित्य का भाव श्रोता या पाठक तक और नाटक का अभिनय दर्शक तक पहुँचाना सम्प्रेषण है। सम्प्रेषण की क्षमता अथवा योग्यता सम्प्रेषणीयता है।

सम्प्रेषणीयता के संबंध में डॉ. कृष्णदेव शर्मा ने लिखा है-"सम्प्रेषणीयता पर विचार करते समय उन स्थितियों अथवा तत्त्वों पर भी विचार किया जाना चाहिए जो कवि तथा पाठक के मध्य दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं और कवि के सम्प्रेषण को सफल नहीं होने देते। इस संबंध में रिचर्ड्स ने सर्वप्रथम असंगत स्थितियों की बात कही है। रिचर्ड्स के मतानुसार जब कभी किसी कृति को पढ़ते समय या उसकी व्याख्या करते समय अन्तःवर्गीय उत्थान-पतन से प्रभावित हो जाय, किसी विचार-श्रृंखला का उस पर दृढ़ आग्रह छा जाये तो अर्थ-भंग हो जाना स्वाभाविक है। सम्प्रेषणीयता का दूसरा विरोधी तत्त्व अति भावुकता होती है। भावों की अतिशयता के कारण कई बार कविता अथवा काव्य-कृति दुर्बोध हो जाती है। कई बार विशिष्ट प्रकार के दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्तों की अन्धभक्ति के कारण पाठक पूर्वाग्रहों से मुक्त होता है इस कारण सम्प्रेषणीयता असफल रह जाती है। रिचर्ड्स ने और भी कई ऐसे तत्त्व गिनाये हैं जो कविता अथवा कलाकृति के सम्प्रेषण में बाधक होते हैं।"

सम्प्रेषणीयता शब्द सम्प्रेषण से बना है। सम्प्रेषण का कार्य अत्यन्त कठिन होता है। सम्प्रेषण ठोस वस्तु के समान नहीं होता। कलागत सम्प्रेषण वहीं सम्भव होता है, जहाँ एक मस्तिष्क (कलाकार) अपने परिवेश पर ऐसा प्रभाव डालता है या उसका संयोजन करता है कि दूसरा मस्तिष्क उससे प्रभावित हो जाता है। उस दूसरे मस्तिष्क की स्थिति ठीक पहले मस्तिष्क की स्थिति के अनुरूप हो जाती है। किसी वस्तु या स्थिति के पूर्ण अवबोध के लिए कलाकार में जागरूक निरपेक्षता शक्ति होनी चाहिए। कलाकार में साधारणता का गुण भी होना चाहिए। उसके अनुभव अन्य व्यक्तियों के अनुभवों के मेल में प्रस्तुत होकर ही सम्प्रेषणीय अर्थात् सम्प्रेषण के योग्य हो सकते हैं। रिचर्ड्स के अनुसार कलाकृति की प्रतिक्रियाएँ एकरस होनी चाहिए, उनमें भिन्नता होनी चाहिए और उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न किये जाने योग्य हों। रिचर्ड्स ने कलाकार के साधारण होने पर विशेष बल दिया है, अन्यथा उसकी महनीय एवं मूल्य वाली वस्तु का सम्प्रेषित होना कठिन हो जाता है। औसत अर्थात् साधारण स्तर से ऊपर या कम होने से पाठक उसे ग्रहण नहीं कर पायेगा। किसी रचना अथवा कवि की परीक्षा करने के लिए समीक्षक को विषय का पूर्ण बोध होना चाहिए। वह सम्प्रेषण की सफलता की परीक्षा तभी कर सकता है, जब वह रचना को ठीक से पढ़ना जानता हो। माया अग्रवाल ने क्रोचे द्वारा सम्प्रेषण को अनिवार्य न मानने की बात भी कही है।

क्रोचे ने सम्प्रेषण को अनिवार्य न मानकर उसे एक व्यावहारिक तथ्य माना है, जबकि रिचर्ड्स इसे कला से बहिर्गत न मानकर कला का एक धर्म मानते हैं, क्योंकि सौन्दर्यानुभूति की सफलता सम्प्रेषण पर ही आश्रित है। कलाकार की सफलता की कसौटी भी यही है कि वह जो कहना चाहता था, वह दूसरों तक सम्प्रेषित हो सकता है या नहीं। सम्प्रेषणीयता से पृथक् रहकर कला का उद्देश्य सार्थक नहीं हो सकता। पाठकों में ग्राहिका शक्ति का होना भी एक अपेक्षित अंग है।

कविता के सम्प्रेषण का माध्यम है-भाषा। रिचर्ड्स ने भाषा के संबंध में भी पर्याप्त विचार किया है। रिचर्ड्स के अनुसार भाषा के दो भेद हैं– तथ्यात्मक और रागात्मक। कवि वैज्ञानिक के समान तथ्यों का शोध नहीं करता, अपितु वह तो रागात्मक अवस्थाओं की सर्जना करता है। भाषा कुछ ऐसे प्रतीकों का समूह है जो श्रोता और पाठक के मन में कवि के मन के अनुरूप मनःस्थिति को उत्पन्न कर दे। रिचर्ड्स के अनुसार शब्द अपने में पूर्ण या स्वतंत्र नहीं होते। नाद, शब्द-पहचान, भाव-विचार, प्रसंग आदि भी इनके साथ जुड़े रहते हैं।

रिचर्ड्स की व्यावहारिक आलोचना– रिचर्ड्स ने 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का कड़ा विरोध किया है। वे काव्यानुभूति को जगत् से पृथक् नहीं मानते। उन्होंने नैतिकता को भी मनोवैज्ञानिक मानवतावादी दृष्टि से ही परखा है। इसके अनुसार अच्छा वही है, जो मूल्यवान हो और मूल्यवान वही है, जो मन में संगति एवं सन्तुलन स्थापित कर सके।

डॉ. कृष्णदेव शर्मा के अनुसार रिचर्ड्स के समीक्षा संबंधी विचारों का मूलाधार मनोविज्ञान है और कदाचित् इसी कारण रिचर्ड्स की आलोचनात्मक पद्धति समीक्षा की नव्य-आलोचना से अत्यधिक महिमान्वित हुई है। यद्यपि रिचर्ड्स के मतानुसार साहित्य की समीक्षा का एकमात्र लक्ष्य उसका मूल्यांकन करना होता है, फिर भी उसने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा- "मूल्य और प्रेषणीयता की भित्ति पर ही आलोचना के भवन का निर्माण हो सकता है।" इस प्रकार रिचर्ड्स ने साहित्यिक समीक्षा को मानवीय मूल्यों की तुला पर रख दिया है। साहित्य की समीक्षा का एकमात्र लक्ष्य मूल्यों का निर्धारण करना है और इसके लिए साहित्यिक कृति में सम्प्रेषणीयता की स्थिति अनिवार्य है। इस प्रकार रिचर्ड्स ने समूची पाश्चात्य आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। रिचर्ड्स के अनुसार आलोचना साहित्य का मूल्यांकन करती है और साथ ही उसके मूल्यांकन के मानदण्डों का भी निर्धारण करती है। उसने आलोचना को एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में स्वीकार किया है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि रिचर्ड्स के समीक्षात्मक सिद्धान्तों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह एक वैज्ञानिक अन्वेषक था। यदि हम कविता के मूल्य का परीक्षण करना चाहते हैं, तो हमें यह जानना होगा कि कविता की रचना करते समय कवि की क्या स्थिति रहती है तथा कविता की अनुभूति करते समय पाठक की क्या स्थिति रहती है? इसके लिए यह आवश्यक है कि किसी कलाकृति में उपयुक्त शब्दावली का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करते हुए हम इस बात का पता लगायें कि अपने पाठकों और आधुनिक समीक्षा को वह कृति किस प्रकार प्रभावित करती है। इस प्रकार अपने समीक्षात्मक सिद्धान्तों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अपनाना पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र को रिचर्ड्स की बड़ी देन समझी जायेगी।

इस आधार पर रिचर्ड्स की आलोचना को व्यावहारिक माना जा सकता है, क्योंकि वह 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का विरोधी और 'कला, जीवन के लिए' सिद्धान्त का समर्थक था। यह एक व्यावहारिक बात है कि कविता और कला द्वारा श्रोता और पाठक अथवा दर्शक पर अनुकूल प्रभाव होना चाहिए। कविता पढ़कर या सुनकर श्रोता और पाठक को तथा कलाकृति देखकर दर्शक को आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए। यदि कविता से श्रोता या पाठक को तथा कलाकृति से दर्शक को कोई मानसिक लाभ अथवा मन में अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई तो वह कविता और कला व्यर्थ है। इस प्रकार की कविता को कोई क्यों पढ़ेगा तथा इस प्रकार की कलाकृति को कोई क्यों देखना चाहेगा?

डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त ने रिचर्ड्स के कविता के रागात्मक मूल्य और सम्प्रेषणीयता के सिद्धान्त को भारतीय काव्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त के पर्याप्त समीप मानकर लिखा है-

> *"रस-सिद्धान्त रागपरक काव्य सिद्धान्त है। रिचर्ड्स भी कविता का मूल्य रागात्मकता में मानते हैं। जिस प्रकार रसवादी रस की सत्ता सहृदय में मानते हैं, उसी प्रकार रिचर्ड्स भी काव्यानुभूति का मूल्य पाठक के मान पर पड़े प्रभावों को मानते हैं। रस सिद्धान्त में भाव को प्रधानता प्राप्त है, रिचर्ड्स ने भी काव्यानुभूति में संवेग, भावना और अभिवृत्ति को प्रधानता दी है। रस-सिद्धान्त में विभाव के अन्तर्गत उद्दीपन की चर्चा है। रिचर्ड्स ने भी उद्दीपन अनुक्रिया के रूप में काव्यानुभूति का विश्लेषण किया है। रस सिद्धान्त मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति में वासना-रूप में स्थायी भाव विद्यमान रहते हैं, रिचर्ड्स भी आदिम आवेगों की सत्ता स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार रस-सिद्धान्त में मित्र-अमित्र रसों की चर्चा है, उसी प्रकार रिचर्ड्स के विवेचन में विरोधी आवेगों की। दोनों अनेकता में एकता, अव्यवस्था में व्यवस्था और विरोधों में अविरोध की बात करते हैं। रस-सिद्धान्त में चित्त की एकाग्रता, विश्रान्ति और निर्वैयक्तिकता को रसात्मक आनन्द की विशेषताएँ कहा गया है, रिचर्ड्स भी आवेगों के सन्तुलन में उत्पन्न अखण्ड मन:स्थिति की बात करते हैं। निर्वैयक्तिकता को भी उन्होंने स्वीकार किया है। रिचर्ड्स का सम्प्रेषण क्रिया का विवेचन हमारे यहाँ के साधारणीकरण के समीप है।"*

डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त ने भारतीय काव्यशास्त्र के रसवाद और रिचर्ड्स के रागात्मक आनन्द में अनेक प्रकार के भेदों पर भी प्रकाश डाला है। रिचर्ड्स के आलोचना संबंधी विचारों का अथवा उनकी व्यावहारिक आलोचना का विरोध न हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। डॉ. भगीरथ दीक्षित ने रिचर्ड्स की मनौवैज्ञानिकता की आलोचना करते हुए लिखा है-

"जीवन और साहित्य के प्रति रिचर्ड्स ने मनोवैज्ञानिक मानववादी दृष्टिकोण अपनाकर उसके मूल्य का मान निर्धारित किया है। यद्यपि अपने इस दृष्टिकोण में उन्होंने नैतिक दृष्टिकोण का समावेश कर लिया है, हम उसे अनैतिक दृष्टिकोण नहीं कह सकते। फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि उन्होंने नैतिकता को भी मनोवैज्ञानिक मानववादी दृष्टिकोण से ही निर्धारित किया है। उनके अनुसार अच्छा वही है जो मूल्यवान हो और मूल्यवान वही है जो मन में संगतिपूर्ण सन्तुलन स्थापित करे। समीक्षा के क्षेत्र में मूल्य-विषयक जितने भी अन्य प्रकार के धार्मिक, नैतिक और सौन्दर्यशास्त्रीय मत थे, उन सभी के विरोध में रिचर्ड्स ने अपना यह शुद्ध मनोवैज्ञानिक मत प्रस्तुत किया है। कहा नहीं जा सकता है कि भविष्य में मनोविज्ञान की नवोपलब्धियाँ किस कोटि की होंगी और मनोविज्ञान की परिणति क्या होगी? निरन्तर मनोविज्ञान के क्षेत्र में नये-नये मत प्रविष्ट हो सकते हैं और पुराने का खण्डन हो रहा है।"

अंग्रेजी के आधुनिक आलोचकों में आइ. ए. रिचर्डस का एक विशिष्ट महत्व है। उसने क्रमबद्ध रूप से साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण किया है। आलोचना के क्षेत्र में उसके समकालीनों में इलियट का स्मरण किया जा सकता है, दोनों ने ही बड़े व्यापक भाव से आधुनिक साहित्य की समस्याओं के अधिकांश महत्व के पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इन दोनों ने आधुनिक साहित्य की आलोचना सम्बन्धी मौलिक स्थापनाओं की ओर अध्येताओं का ध्यान बड़े प्रभावशाली ढंग से आकृष्ट किया। इलियट कवि था। स्वाभावत: उसने कवि की दृष्टि से अपने विचार प्रकट किये, लेकिन रिचर्डस कविता पर मनोविज्ञान और भाषा विज्ञान की दृष्टि से विचार करता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में रिचर्डस की रुचि नाना विषयों की और थी। दर्शनशास्त्र, मेटाफिजिक्स (तत्व मीमांसा), नीतिशास्त्र, साहित्यशास्त्र, कला, मनोविज्ञान, विज्ञान आदि में उसकी अच्छी पैठ थी, साहित्य और कला के संबंध में अपने विचार प्रकट करते समय उसने अपनी इस बहुलता का पूरी तरह से उपयोग किया। यही कारण है कि आइ.ए. रिचर्डस के विचारों में जैसी गहराई है वैसी ही ताजगी भी। उसकी आलोचना में रूमानी आलोचना का भावनाद, कर्नाल्ड की सामाजिकता तथा मनोविज्ञान की अन्तदृष्टि का समावेश दिखाई देता है। रिचर्डस एक ओर तो कलागत मूल्यों की रक्षा करते हैं और दूसरी ओर उन्हें वृत्तियों की व्यवस्था और समन्वय के कार्य द्वारा जीवन से सम्बद्ध कर देते हैं।

रिचर्डस के अनुसार मूल्य का मानक मानवीय क्रियाओं के सामान्य मानों से पृथक नहीं होता। साहित्य एक मानवीय प्रक्रिया है अत: उसका मूल्य निर्धारण करने वाले तत्व या मान भी वे ही हैं जो मानवीय क्रियाओं के लिए अपेक्षित होते हैं। इनके अनुसार कविता का मूल्य मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है - 'Arts are the supreme form of the communicative activity' जितनी अधिक सम्प्रेषणीयता किसी रचना में होगी, वह रचना उतनी ही उत्कृष्ट कोटि की कही जाएगी। इसके अनुसार मन का अर्थ है मनोवेगों की क्रियाशीलता शिराविषयक व्यवस्था। मन में आवेग उसकी व्यवस्था को भंग किये रहते हैं। कला का प्रयोजन है- मानव मन के आवेगों में संगति और सन्तुलन उपस्थित करना।

इसके अनुसार सौन्दर्य एक विशेष प्रकार का मूल्य है। इसे इन्होंने निरपेक्ष मूल्य कहा है। सौन्दर्य का मूल्य यही है कि इससे विरोधी-अवरोधी मनोवेग व्यवस्थित एवं संतुलित होते हैं। सौन्दर्य से उत्पन्न मन की आनन्दमयी स्थिति को न तो निष्क्रिय अथवा स्तब्ध अवस्था कहा जा सकता है और न उत्तेजित अवस्था ही। कुछ मनोवेग प्रवृत्तिमूलक होते हैं और कुछ निवृत्तिमूलक। कला सभी में संगति और संतुलन स्थापित करती है। संतुलित मन:स्थिति वस्तुत: भारतीय काव्यशास्त्र के रसास्वाद या काव्यानन्द दशा की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। इस प्रकार रिचर्डस के अनुसार कला मानव व्यापारों से सम्बद्ध है, मानव क्रियाओं में इसका मूल्य सर्वाधिक है। काव्य का मूल्य है- मानव मन के मनोवेगों में व्यवस्था एवं सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करना।

रिचर्डस ने सौन्दर्य को विषय निष्ठ माना है। इन्होंने वस्तु में सुन्दरता न मान कर व्यक्ति की दृष्टि में सुन्दरता की कल्पना की है। किसी वस्तु को सुन्दर कहने का अर्थ यह है कि हम अपनी मन:स्थिति का उस पर प्रेक्षण या आरोप करते हैं। परन्तु सौन्दर्य विषयक इनकी मान्यता की परवर्ती विद्वानों ने आलोचना करते हुए उसे विषय निष्ठत घोषित किया है। इनका तर्क है कि काव्य वस्तु का चयन सौन्दर्य की विषय निष्ठता को प्रमाणित करता है। तात्पर्य यह है कि विषयागत स्थिति में विषय का महत्व ही जाता रहेगा। इसके अतिरिक्त सुन्दर वस्तु उपभोक्ता पर अपना अमिट प्रभाव डालती है, यह भी सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का प्रमाण है। फिर भी सौन्दर्य को पूर्णत: विषयनिष्ठ अथवा पूर्णत: विषयिनिष्ठ मानना उचित नहीं है। दोनों का सत्य एकांगी है।

रिचर्डस ने साहित्य और विज्ञान का भेद बताते हुए कहा है कि विज्ञान का आधार है कथन की सच्चाई। परन्तु जब किसी कथन की सच्चाई या झूठ महत्वहीन होते हैं और उससे मानव के भावों और अंतर्वेगों की उद्‌बुद्धि होती हो तो ऐसे छद्‌म कथन असाहित्यिक कहे जायेंगे। कविता का सम्बन्ध बौधक सत्य से न होकर रागात्मक प्रतिक्रिया से होता है। विज्ञान का संबंध बाह्य जगत से है जबकि साहित्य मानसिक अवस्थाओं से सम्बद्ध है। वैज्ञानिक सत्य को जानने के लिए न्यायात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है जबकि साहित्य के लिए कलात्मक बुद्धि की अपेक्षा होती है। विज्ञान का धरातल वास्तविक होता है। साहित्य के धरातल में वास्तविकता अवास्तविकता की अपेक्षा भावों को जागृत करने की क्षमता अनिवार्य होती है।

रिचर्डस ने साहित्य के मनोवेगों की महत्ता को स्वीकार करते हुए साहित्य विषयक मान्यताओं को भी इन्हीं मनोवेगों के सन्दर्भ में प्रतिपादित किया। रिचर्डस ने मानव के सम्पूर्ण मनोवेगों को दो प्रमुख वर्गों में रखा - एक आसक्तिमूलक मनोवेग है और दूसरे विरक्तिमूलक मनोवेग हैं। प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार के मनोवेग होते हैं तथा जीवन के अनुभवों में वस्तुत: इन्हीं मनोवेगों के संचरण होता है। सरल अनुभवों के संचरण में कम वृत्तियों का योग रहता है तथा जटिल अनुभवों में अधिक वृत्तियां सक्रिय होती हैं। सामान्य जीवन में प्राय: अनुभव सरल होते हैं तथा ये वृत्तियां 'अव्यवस्थित-व्यवस्थित' तथा 'अस्त-व्यस्त' रहती हैं, मगर कवि के अनुभव में इन वृत्तियों की व्यवस्था होती है तथा कविता से उत्पन्न सहृदय का अनुभव भी। इस अवस्था के लिए रिचर्डस ने पहले तो 'सिनिस्थमिस' शब्द का प्रयोग किया, मगर फिर 'सिनिस्थसिस' का प्रयोग किया है। विरोधी मनोवेगों का सन्तुलन या समन्विति, यही काव्य का चरम मूल्य है तथा काव्य के महत्व का आधार यह समन्विति ही है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी सभी भावों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें दो वर्गों में रखा है - दुख: मूलक भाव और सुखमूलक भाव। दोनों प्रकार के भाव काव्य का विषय बनते हैं तथा अपनी-अपनी विशेषताओं के अनुरूप सहृदय को प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने कविता प्रभाव से भावों के व्यायाम और परिष्कार की बात की है उसी प्रकार रिचर्डस भी यह मानता है कि काव्य के अध्ययन से सहृदय के राग तत्व का परिमार्जन होता है।

मनोवेगों का संतुलन या सामरस्य तो जीवन में भी सिद्ध होता है, मगर काव्य के द्वारा जो सामरस्य पैदा होता है वह अधिक जटिल एवं मूल्यवान होता है। इसकी एक विशेषता यह भी होती है कि इनमें यद्यपि विरोधी मनोवेगों के संतुलन की व्यवस्था पैदा होती है मगर यह अवस्था ऐसी होती है जो कम से कम मनोवेगों को अवरुद्ध या कुंठित करती है। संतुलन की इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए रिचर्डस इस अवस्था को अनिर्णय की स्थिति से भिन्न में प्रतिष्ठित करता है। अनिर्णय की स्थिति में दो विरोधी मनोवेग या विरोधी मनोवेगों के वर्ग सक्रिय रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति कोई भी पथ निर्धारित नहीं कर सकता। यद्यपि अनिर्णय की अवस्था में भी विरोधी मनोवेगों का एक प्रकार का संतुलन रहता है मगर यह काव्यजन्य संतुलन से भिन्न है। इसी प्रकार संतुलन की यह स्थिति अत्यधिक हर्ष और विषाद की अवस्था से भिन्न है। यहां चेतना किसी एक वर्ग के मनोवेगों से आविष्ट होती है।

मनोवेगों का यह संतुलन इस रूप में निष्प्रयोजन होता है कि वह कर्म को प्रेरित नहीं करता। इस प्रकार यहां रिचर्डस का निष्प्रयोजनता से तात्पर्य है कर्म में लीन होने की प्रक्रिया का अभाव। यद्यपि यह कहा गया है कि रिचर्डस द्वारा निष्प्रयोजनता का यह उल्लेख कांट के निष्प्रयोजन आनंद का स्मरण करता है, मगर दोनों में अंतर विवेचन के स्तर हैं। कांट का विवेचन दर्शन पर आश्रित है जबकि रिचर्डस के विवेचन का आधार मनोविज्ञान है। उसने मनोवेगों की संतुलन की अवस्था की तुलना खिलाड़ी से की है जो खेल में भाग लेने के लिए सन्नद्ध है। खिलाड़ी की सन्नद्धता से तुलना का अभिप्राय यह है कि मानसिक संतुलन की यह स्थिति कर्म से विच्छिन्न नहीं है, उसमें कर्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं। कर्म के प्रति आसक्ति होती है मगर कर्म प्रवृत्ति नहीं होती है।

यहां पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सफल कविताओं के द्वारा मनोवेगों का संतुलन निष्पन्न होता है तो क्या सभी सफल कविताएं समान रूप से श्रेष्ठ हैं, या उन सब में मनोवेगों के संतुलन की स्थिति समान होती है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि मनोवेगों के संतुलन की अवस्था में अंतर होता है। रिचर्डस के अनुसार मनोवेगों के संतुलन के दो रूप होते हैं।

1. **मनोवेगों के समाहार के द्वारा** - जहां अनेक मनोवेगों का समाहार या समावेश होता है।

2. **मनोवेगों के बहिष्कार द्वारा** - जहां कुछ सीमित मनोवेगों को स्वीकारा जाता है तथा अधिकांश मनोवेगों का बहिष्कार या वर्जन किया जाता है।

मनोवेगों के संतुलन के बारे में रिचर्डस ने यह भी स्वीकार किया है कि इसकी सूक्ष्म एवं जटिल क्रिया के सभी पक्षों को पूरी तरह समझ पाना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के विकास के बावजूद भी मन की विविध क्रियाओं की, वृत्तियों एवं मनोवेगों के उदय, संघर्ष और समन्विति की पूर्ण वैज्ञानिक एवं वस्तुपरक व्याख्या सम्भव नहीं है क्योंकि अध्ययन के विषयी-परक क्षेत्र में अध्ययन की सीमाएं स्पष्ट हैं।

रिचर्डस ने कल्पना को कोई रहस्यपूर्ण क्रिया नहीं माना। उसे भी मन की अन्य क्रियाओं के समान माना है। रिचर्डस ने कल्पना विषयक कालरिज की मान्यता को ही स्वीकार किया है। कालरिज के अनुसार कल्पना एक ऐसी संयोगिक शक्ति है जो विपरीत और विस्वर गुणों को संतुलित करती है। रिचर्डस के अनुसार वह विभिन्न और विपरीत मनोवेगों तथा अनुभावों में व्यवस्था तथा संतुलन उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त रिचर्डस ने कल्पना के कतिपय अन्य प्रचलित अर्थों का भी उल्लेख किया है। परन्तु कल्पना का सर्वोत्कृष्ट रूप उसी को माना है जिससे विरोध परिहार होता है। कालरिज ने इसको संगीतात्मक आनंद का बोध कराने वाली कल्पना कहा है। रिचर्डस ने उस कलाकृति को सर्वोत्कृष्ट माना है जो विरोधी भावों को व्यवस्थित करने वाली होती है।

मूल्य के सम्बन्ध में कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रिचर्डस ने साहित्य का मूल्य अन्य मानव क्रियाओं के समान माना है। उनके अनुसार साहित्य का प्रयोजन ऐसी मनःस्थिति है जो संतुलित एवं संयोजित होती है। रिचर्डस ने मनोविज्ञान की सहायता से भाव की स्थिति से आगे बढ़कर मनोवेगों के स्तर पर सहृदय काव्यानुभाव की समीक्षा की है।

इकाई-चार

धार्मिक कट्टरवाद के कारण ईसा की प्राय: पन्द्रहवीं शताब्दी तक यूरोप में साहित्यिक गतिविधियाँ अत्यंत संकुचित थीं। धार्मिक कट्टरवाद के प्रभाव से ऐसी ललित कलाओं का विकास बाधित हो गया, जिनका अभ्यास सिर्फ आनंदानुभूति के लिए किया जाता था। ईसाई धर्म ललित कलाओं के विकास का सिर्फ उस सीमा तक अनुमोदन करता था, जहाँ तक धार्मिक उपदेशों के प्रचार-प्रसार के लिए उपयोगी सिद्ध हों। मध्ययुग में पाश्चात्य जगत, आध्यात्मिक, धार्मिक, बौद्धिक तथा भौगोलिक आदि सभी दृष्टियों से अत्यंत सीमित व संकुचित था एवं मोहमयी निद्रा में निमग्न था। प्राय: चौदहवीं शताब्दी में इसने नेत्रोन्मीलित कर चकित दृष्टि से सृष्टि की भव्य सुंदरता को देखना प्रारंभ किया। 1453 ई. में कान्स्टेंटिनोपिल के ग्रीक साम्राज्य के पतन के साथ ग्रीक विद्वानों के इटली पहुँचने पर कला तथा साहित्य सृजन का नवीन युग प्रारंभ हुआ, जिसे पुनर्जागरण काल कहा गया। यह पुनर्जागरण काल प्राचीन अभिजात्य परंपराओं, पुराशास्त्र, साहित्य तथा संस्कृति के पुनरुत्थान का समय था। इसी काल में ज़र्मनी में मुद्रणकला के आविष्कार, वैज्ञानिक विकास एवं सामुद्रिक यात्राओं से भौगोलिक सीमाओं के विस्तार ने साहित्य तथा कला को भी नयी दिशा प्रदान की। वैचारिक आदान-प्रदान के उपाय मिलने से ज्ञान का विशदीकरण हुआ जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्र चिंतन और मौलिक सृजन की लहर उठी। ग्रीक विद्वानों के साथ इटली पहुँचे ग्रीक रोमन प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों से इटली के प्रबुद्ध वर्ग को ग्रीसो-रोमन संस्कृति को जानने का अवसर मिला। ग्रीसो-रोमन संस्कृति को अपनी संस्कृति की बजाय अधिक आधुनिक मानकर उसके आदर्श पर अपनी संस्कृति के पुनर्निर्माण के लिए बौद्धिक जगत सोत्साह प्रवृत्त हुआ। इस काल में साहित्य के अध्ययन-मनन-अनुकरण तथा आलोचना का कार्य तीव्र गति से हुआ। प्राचीन ग्रंथों के पुनराख्यान तथा समीक्षा से साहित्यालोचन का विकास हुआ।

इस पुनःजागृति की लहर का प्रभाव इटली तक ही सीमित नहीं था। ग्रीक विद्वानों और क्लासिकल साहित्य का प्रभाव एलिजाबेथ-युग के अंग्रेजी विद्वानों पर भी पड़ा, किन्तु उन्होंने न तो सर्वांशत: ग्रीक ग्रंथों का अनुकरण किया एवं न इटली की साहित्यिक कृतियों का। उन्होंने अपनी रचनाओं में ग्रीक विद्वानों के आदर्श का अंधानुसरण नहीं किया। इस युग के दो प्रसिद्ध आलोचक सर फिलिप सिडनी तथा बेन जानसन हैं। सर फिलिप सिडनी ने प्लेटो के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों पर अपने विचार प्रगट किये तथा बेन जानसन ने कवि के अपेक्षित गुणों एवं काव्य रचना की प्रक्रिया आदि के विषय में स्वतंत्र चिंतन प्रस्तुत किया।

पुनर्जागरण काल की नवीन सामाजिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों का श्रेय सिर्फ ग्रीक विद्वानों के आगमन को नहीं वरन् मध्ययुग की दासता से मुक्ति पाने के प्रयत्न को है। पर धीरे-धीरे धार्मिक, भौगोलिक, सामाजिक सांस्कृतिक परंपराओं की श्रृंखलाओं से मुक्त हुए समाज का आचरण उच्छृंखल होता चला गया। साहित्य के क्षेत्र में स्वच्छन्तावादी प्रवृत्ति बढ़ गयी, साहित्य के कथ्य और शिल्प में विकृति आने लगी। ऐसी स्थिति में कवियों के मार्गदर्शन तथा दिशा-निर्देश के लिए पुन: प्राचीन क्लासिक कृतियों की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ एवं अभिजात्यवाद या नव्य-शास्त्रवाद का जन्म हुआ।

अभिजात्यवादी युग में साहित्य आलोचना का केन्द्र इटली से फ्रांस स्थानांतरित हो गया। फ्रांसीसी कवि रोन्सार कवि-विक्षेप को काव्य रचना के लिए आवश्यक मानता था और वह कल्पनामयी कवि-प्रतिभा को पूर्ण स्वतंत्रता देने का समर्थन करता था। इससे काव्य जगत में अव्यवस्था फैल गयी, विवेकहीन कल्पना की निर्बाध गति से कविता अगम्य क्षेत्रों तक पहुँच गयी। इस अव्यवस्था को दूर करने एवं कल्पना की निरंकुश गति को नियंत्रित करने के लिए बुअलो, रापें और ला बोस्यूँ आदि विचारकों ने जो कार्य किया, वही नव्य शास्त्रवाद के जन्म का कारण बना। नव्य शास्त्रवादी युग के आलोचक प्राचीन विद्वानों की कृतियों को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। प्राचीन साहित्य के प्रति उनमें आदर भाव था तथा प्राचीन विद्वत्ता, ज्ञान तथा नियमों के प्रति श्रद्धा थी। अत: उन्होंने आधुनिक रचनाकारों के लिए प्राचीन कृतियों को अपना आदर्श स्वीकार कर उनके अनुकरण को सफलता की कसौटी माना। कोरनीले, रेसाइन, बुअलो एवं बोस्यूँ ने शुद्ध काव्य रचना के नियम प्रस्तुत किये और सफल साहित्य-सृजन के लिए उनका पालन अनिवार्य बताया।

अभिजात्यवाद (नव्य शास्त्रवाद) का प्रमुख प्रवर्तक बुअलो माना जाता है। उसने काव्य रचना के कुछ शाश्वत नियम निर्धारित किये एवं काव्यकृति को परखने के कुछ मानदण्ड निश्चित किये, जिन्हें फ्रांस में एक शताब्दी तक स्वीकार किया गया एवं जिनका प्रभाव इंग्लैंड पर भी पड़ा। उसके बनाये नियम अत्यधिक कठोर थे इसलिए स्काट जेम्स ने इनकी तुलना सैनिक अनुशासन से की तथा बुअलों को सार्जेन्ट-मेजर कहा। बुअलो का मत था कि उसके बनाये नियमों का पालन करने से उच्चकोटि की काव्यकृति का सृजन सरलतया किया जा सकता है। प्रत्येक साहित्यिक विधा-महाकाव्य, त्रासदी, शोकगीत आदि के लिए पृथक-पृथक नियम थे, जिनका आधार प्राचीन ग्रीक कवि-होमर, वर्जिल, हौरेस थियोक्रिट्स ओविड आदि की कृतियाँ थीं। इन नियमों का पालन ही किसी काव्यकृति की सफलता का मानदण्ड था। इस मान्यता का प्रचलन अगली अनेक शताब्दियों तक रहा, जैसा कि रैने बैलक के कथन से विदित होता है-"Neo Classicism is a fusion of Aristle and Horace, or statement of there principles and views which underwant only comparatively miner change during almost three centuries."

अभिजात्यवादी मान्यता के अनुसार काव्य सृजन में भावना तथा कल्पना का स्थान निस्संदेह महत्वपूर्ण है पर काव्यसृजन अचेतन प्रक्रिया नहीं है। इसके लिए सचेत ऐच्छिक प्रयत्न अपेक्षित हैं, जो विवेकपूर्वक लक्ष्य और साधन के चुनाव पर आधारित है। कल्पना को विवेक से नियंत्रित करना आवश्यक है। न केवल रचनाकार अपितु सहृदय पाठक अथवा आलोचक को भी सुसंस्कृत अभिजात्य अभिरुचि से संपन्न होना चाहिए, इसके लिए प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन अपेक्षित है।

प्रकृति का अनुकरण अभिजात्यवाद की प्रमुखतम मान्यता है। नव्यशास्त्रवादी मान्यता के अनुसार प्रकृति का अर्थ बाह्य प्रकृति अथवा सृष्टि का प्राकृतिक सौंदर्य नहीं अपितु अंत: प्रकृति या मानव-स्वभाव है। प्रकृति के अनुकरण का तात्पर्य यथार्थवादिता या वास्तविकता का पुन: सृजन है। इस यथार्थवादिता के कारण नाटकों में अन्विति-त्रय को विशेष महत्व दिया गया है। अरस्तू ने कहा था कि काव्य में अविश्वसनीय संभाव्यता की बजाय संभावित असंभाव्यता श्रेयस्कर है अत: उसको स्थान दिया जाना चाहिए। इसी आधार पर अभिजात्यवादियों ने काव्य में अविश्वसनीय एवं असंभव का परित्याग करने का परामर्श दिया। जीवन के निम्नस्तर और स्थितियों को त्यागकर उन्नत तथा उदात्त वस्तु का वरण करने को कहा। ऐसे नायक के चयन का सुझाव दिया जो शक्ति तथा गुणों में महान् हों। काव्य में अति मानवीय तत्वों-देवताओं और राक्षसों, संतों तथा देवदूतों को काव्य में वर्णन योग्य नहीं माना, पर प्राचीन पौराणिक कथाओं में जनसामान्य की आस्था एवं विश्वास के कारण उन्हें स्वीकार किया।

अभिजात्यवाद में ऐसी मानव प्रकृति को काव्य का वर्ण्य विषय माना गया जो देश-काल की सीमाओं में आबद्ध न हो, पात्र सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक हों, जिससे काव्यकृतियों को शाश्वत सार्वत्रिक महत्व प्राप्त हो। उदात्तता और औचित्य को विशेष प्रश्रय दिया, परिणामत: असुंदर, भयावह, निम्न तथा क्षुद्र का परित्याग किया। कवियों को अभिजात्य व उदात्त आचरण एवं भावनाओं का वर्णन करने का निर्देश देते हुए, लोभ निन्दा, वासना व हीनता आदि का चित्रण वर्जित कर दिया। अभिजात्य वर्ग की संतुष्टि और सराहना को कला एवं काव्य की सफलता माना।

सार्वभौम सार्वकालिक प्रकृति के अंकन के सिद्धांत ने आदर्शवाद को जन्म दिया। नैतिक दृष्टि से उन्नत, समाज में शोभन-समादृत आचरण वाले पात्रों की रचना तथा सामाजिक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण वाले पात्रों के बहिष्कार की बात कही गयी क्योंकि ऐसा करना काव्य की लोकप्रियता का उपाय माना गया। आदर्श प्रकृति का चित्रण कला का उद्देश्य माना गया और इसके लिए काव्यगत न्याय का सिद्धांत अपनाया गया। कवि से अपेक्षा की गयी कि वह अपनी रचना में अंतत: दुर्जनता को दण्डित होते हुए तथा सज्जनता को पुरस्कृत होते हुए चित्रित करके ईश्वरीय न्याय को प्रदर्शित करे।

नैतिक शिक्षा देना काव्य का चरम लक्ष्य है, ज्यादातर अभिजात्यवादी ऐसा मानते थे, केवल कुछ ने ही आनंद को काव्य कला का प्रयोजन माना। यद्यपि आनंद और नैतिक शिक्षा दोनों काव्य प्रयोजन के रूप में स्वीकृत थे किन्तु अधिक महत्व नीत्युपदेश को दिया गया। काव्य का मूल्यांकन उसकी नैतिक उपयोगिता के आधार पर किया जाता रहा। नव्यशास्त्रवादी नीत्युपदेश तथा ज्ञानाभिवृद्धि को अधिक महत्व देते थे, अत: वे कवि के नीतिवादी और ज्ञानवान होने की अपेक्षा रखते थे। प्रतिभा एवं प्रेरणा को कवि का आवश्यक गुण माना गया पर उच्च कोटि का काव्य रचने के लिए कवि के असीम ज्ञान भण्डार, विशेषत: प्राचीन क्लासिक साहित्य संबंधी ज्ञान और काव्य-कला के नियमों के सर्वांगीण परिचय तथा अनुवर्तन को आधारभूत महत्व दिया गया।

साहित्य की प्रत्येक विधा की रचना के निर्धारित नियमों के अनुरूप काव्यसृजन के कार्य में कल्पना को गौण स्थान प्राप्त हुआ और विवेक एवं औचित्य को प्रधान स्थान मिला। काव्य में आद्यन्त सुसंगतता तथा सम्बद्धता होनी चाहिए, अति का सर्वत्र परिहार किया जाना चाहिए-Restraint is the first lesson of writing. Let everything be in its place and the beginning and end respond to the middle.

अभिजात्यवादी काव्यशास्त्रियों ने काव्य के प्रत्येक पक्ष-छंद, भाषा, शिल्पविधान आदि के विस्तृत-नियम बनाये जो क्लासिकल साहित्य पर आधारित थे तथा जिनका पालन अनिवार्य था। अरस्तू के काव्य नियमों की स्वाभिमत व्याख्यायें की गयीं तथा काव्यकृति का मूल्यांकन उसकी समग्रता के आधार पर नहीं वरन् खण्डश: कलापक्षीय दृष्टि से किया जाने लगा। काव्य के समग्र प्रभाव के स्थान पर उसके शिल्पगत वैशिष्ट्य को अधिक महत्व दिया गया। कथा, पात्र, शैली, विचारतत्व और छंद का पृथक-पृथक विश्लेषण-मूल्यांकन हुआ। अलंकारशास्त्र से प्रभावित अभिजात्यवादी, समीक्षकों ने शैलीगत युक्तियों के विवरण पर ध्यान दिया, अलंकारों का वर्गीकरण, छन्दों का सारणीयन पर काव्य के बाह्य अलंकरण पर अधिक बल दिया। काव्य-रचना संबंधी नियमों के कठोर बंधन में जकड़ी कविता की जीवन्तता समाप्त होने लगी, कलाकारों की मौलिकता आहत हुई एवं कल्पना जड़ हो गयी।

संक्षेपत: आभिजात्यवाद की प्रमुख मान्यताओं का परिगणन निम्नवत है-

1. *काव्य में कल्पना या भाव की अपेक्षा विवेक की प्रधानता होनी चाहिए।*
2. *काव्य में सार्वभौमिक और सार्वकालिक मानव प्रकृति का अंकन होना चाहिए।*

3. *काव्य की विषयवस्तु अभिजात्यवर्ग यथा राजदरबार से ली जानी चाहिए।*
4. *उदात्त तथा भव्य भावनाओं का चित्रण एवं तुच्छ हेय वस्तु का परित्याग होना चाहिए।*
5. *विषय प्रतिपादन निर्वैयक्तिक होना चाहिए, वैयक्तिक नहीं।*
6. *काव्य का मूल्यांकन उसकी भावोत्पादन क्षमता के आधार पर नहीं, बल्कि शिल्पगत सौष्ठव के आधार पर होना चाहिए।*
7. *साहित्य का उद्देश्य शिक्षा देना तथा आनंद देना है।*
8. *गद्य और पद्य की भाषा भिन्न होती है।*

स्वच्छन्दतावाद के स्वरूप और प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषण

वस्तुत: स्वच्छन्दतावाद शब्द अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म शब्द का समानार्थी है और पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा इसे शास्त्रवाद (क्लासिज्म) के विपर्यय के रूप में स्वीकार किया गया। पाश्चात्य जगत् में रोमांटिक शब्द का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से ही होता रहा है और नव्यशास्त्रवादी युग में भी साहसिक एवं रूमानी कहानियों में रोमांटिक शब्द का प्रयोग किया गया। परन्तु अठाहरवीं शताब्दी में तो इस शब्द के अर्थ को ऐसी व्याप्ति एवं विस्तृति प्राप्त हुई है कि यह शब्द कला एवं साहित्य के क्षेत्र में न केवल एक जीवन्त और प्राणवान चिन्तनधारा के रूप में प्रकट हुआ, बल्कि इसने सम्पूर्ण योरोपीय कला एवं साहित्य के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर नवीन प्रतिमानों की स्थापना की।

सामान्यत: स्वच्छन्दतावाद नव्यशास्त्रवाद की प्रतिक्रिया में ही उत्पन्न हुआ। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो समाज जब प्राचीन आदेशों को ग्रहण करना अस्वीकार कर देता है तथा वस्तु स्थितियां भी इन आदर्शों को जीवित रखने के लिए उपयुक्त वातावरण का प्रावधान नहीं कर पातीं, तब स्वाभावत: ही साहित्यकार की चेतना भी उन प्राचीन जीवनमूल्यों को स्वीकार करने में अपने आपको अक्षम समझने लगती है। इस प्रकार नव्यशास्त्रवादियों ने जब नियमों के जाल में कवियों की उन्मुक्त चेतना को जकड़ना चाहा तथा काव्य में नैसर्गिक भावोन्मेष की न्यूनता सी होने लगी तब कवियों का मन नियमों के जाल को टूक-टूक करने के लिए उत्सुक हो गया। विश्व रंगमंच पर दो ऐतिहासिक घटनाएं हुईं 1. फ्रांस की राज्यक्रान्ति और 2. औद्योगिक एवम् वैज्ञानिक क्रान्ति। यहां यह ध्यान में रखना होगा कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति के जनक रूसो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एमिल' में मानव स्वतन्त्रता पर बल देते हुए स्पष्ट रूप से कहा -'Man is born free but is found everywhere in chains.'

पाश्चात्य इतिहास में नव्यशास्त्रवाद के प्रवर्तन का श्रेय फ्रांस को दिया जाता है और उसका प्रभाव लगभग अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक जर्मनी एवं इंग्लैंड दोनों ने ही न्यूनाधिक रूप में स्वीकार किया लेकिन बाद में फ्रांस में ही महान राज्यक्रान्ति के फलस्वरूप नव्यशास्त्रवाद का प्रभाव समाप्तप्राय हो गया। साहित्य जगत् में स्वच्छन्दतावादी आंदोलन की पुष्टि जर्मन के दार्शनिकों एवं साहित्यकारों से हुई। जर्मनी में विकलमैन (सन् 1717-68) ने प्राचीन यूनान की मूर्तिकला एवं चित्रकला का पुनर्मूल्यांकन करते समय पहली बार कला की एक अंतरंग सत्ता का अस्तित्व स्वीकार किया। उसने कला को आत्म-स्वरूप मानकर यही मत प्रकट किया कि अभिव्यक्ति रूप में कोई भी कला कलाकार के बाह्यान्तर का प्रतिबिम्ब ही होती है। इस प्रकार विकलमैन की विचारधारा से स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को बल प्राप्त हुआ, लेकिन अभिव्यंजना के क्षेत्र में प्राचीन नियमों एवं सिद्धान्तों

का आश्रय लेने के कारण कुछ पाश्चात्य विद्वान उसे पूर्णतया स्वच्छन्दतावादी आलोचक न मानकर शास्त्रीय पद्धति एवं स्वच्छन्दतावादी धारा के मध्य का आलोचक स्वीकार करते हैं।

विकलमैन द्वारा कला सम्बन्धी मान्यताएं स्थापित करने के पश्चात् जर्मनी के अन्य विचारकों ने भी कला एवं साहित्य के सम्बन्ध में नये ढंग से विचार करना आरम्भ कर दिया। इन विचारकों में लेसिंग (सन 1721-1778) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह एक आलोचक कवि एवं नाटककार था, जिसने क्लासिकल साहित्य के साथ-साथ आधुनिक साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया था। इस प्रकार उसे एक ओर तो आधुनिक जर्मन साहित्य का प्रतिष्ठाता कहा गया और दूसरी और जर्मन विचारधारा को नव्यशास्त्रवाद से मुक्त करने का श्रेय प्रदान किया गया। लेसिंग ने अपनी लाओकून नामक आलोचनात्मक कृति में कला एवं साहित्य के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की है। उसने कला के क्षेत्र में पहली बार सुन्दर एवं कुरूप का भेद तिरोहित कर सत्य को प्राथमिकता देते हुए यही कहा कि यदि कवि को सत्य की बेदी पर सुन्दर की हानि करनी हो तो उसे संकोच नहीं करना चाहिए। साथ ही उसने पहली बार नव्यशास्त्रवादियों को चुनौती देते हुए उनका सार्वजनिक रूप से विरोध किया और कवियों को कृत्रिमता से स्वाभाविकता की ओर संचरण करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार जर्मनी में लेसिंग के समय तक स्वच्छन्दतावाद नव्यशास्त्रवाद के समकक्ष विकसित हो गया था। लेसिंग के पश्चात् एक ओर तो शिलर व श्लेगल आदि साहित्यकारों द्वारा और दूसरी और हीगेल एवं कांट जैसे दार्शनिकों द्वारा स्वच्छन्दतावादी सिद्धान्तों का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया गया। इसके बावजूद स्वच्छन्दतावादी विचारकों के समकालीन प्रसिद्ध कवि गेटे ने कई प्रसंगों में शिलर के वक्तव्यों को उद्धृत करते हुए भी स्वच्छन्दतावाद को जी भरकर कोसा और शास्त्रवादी विचारधारा का समर्थन किया। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद के विकास में फ्रांस और जर्मनी के विचारकों और कृतिकारों की महत्वपूर्ण भूमिका के बावजूद प्रवर्तन का श्रेय इन देशों को प्राप्त नहीं हो सका।

प्रमुख तत्व एवं विशेषताएं

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा का अनुशीलन करने के पश्चात् विचारक उसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं मानने के पक्ष में हैं : -

1. **विद्रोह की प्रवृत्ति** - स्वच्छन्दतावाद में स्वतन्त्रता एवं विद्रोह के भाव की प्रबलता स्वाभाविक ही थी और उसमें न केवल भौतिक शक्तियों के अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध बल्कि नीति, धर्म, साहित्यिक परम्पराओं एवं शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध भी विद्रोह की भावना के दर्शन होते हैं। सत्य तो यह है कि स्वच्छन्दतावादियों ने न केवल रचना शिल्प में ही विद्रोह किया, बल्कि विषय जगत् में भी नवीन मार्ग का अनुसरण किया। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी कवियों ने कई नवीन साहित्यिक प्रयोग किए और उनमें अप्रतिम सफलता प्राप्त की तथा छन्दों के विविध स्वरूप का उद्घाटन किया। साथ ही स्वच्छन्दतावादी काव्य एक नवीन चिन्तनधारा और नये भावोन्मेष से भी अनुप्राणित है क्योंकि स्वच्छन्दतावादियों ने अभिजात्य के स्थान पर सामान्य को भी अपना वर्ण्य विषय बनाया और उन्होंने उदात्त वस्तुओं के स्थान पर खंडहर, सूखी पत्ती, शमशान एवं स्काईलार्क आदि साधारण से साधारण वस्तुओं का काव्यात्मक चित्रण किया। इतना ही नहीं, स्वच्छन्दतावादियों ने बुद्धिवाद का भी विरोध किया और साधारण मानव के प्रति पूरी सहानुभूति रखकर अभिजात्य अथवा कुलीन के स्थान पर सामान्य एवं साधारण स्तर के पात्रों का चित्रण किया ।

2. **कृत्रिमता से मुक्ति** - इन विचारकों द्वारा कवियों को प्रकृति की ओर वापिस लौटने और सरलता के प्रति आकृष्ट होने की प्रेरणा दिये जाने के कारण कवियों का मन कृत्रिमता एवं समाजाडम्बर से मुक्त होने के लिए उत्सुक हो उठा। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी कवियों ने अपनी रचनाओं में सामान्य व्यक्तियों के सरल एवं सहज भावों को ही अंकित किया। उन्होनें शैलीगत सरलता को ही अपनाया, क्योंकि उनका एकमात्र उद्देश्य कृत्रिम एवं अयथार्थ लेखन शैली से मुक्त होना था। यहां

यह स्मरणीय है कि 'लीरिकल बैलेड्स' की भूमिका में जिसे स्वच्छन्दतावाद का मैनीफेस्टो कहा गया है - वर्डसवर्थ ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'ये कविताएं इसी बात का पता लगाने के लिये लिखी गई हैं कि मध्य एवं निम्न वर्ग के लोगों के बात-चीत की भाषा कविता के आनन्द के लिए उपयोगी हो सकती है ।वे लोग सामाजिक मिथ्याहंकार से मुक्त होने के कारण अपने भावों और विचारों को सरल एवं अकृत्रिम शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं ।'

3. **मध्ययुगीन साहित्य कला के प्रति रुचि** - नव्यशास्त्रवादियों ने जिस मध्ययुगीन साहित्य कला को अनाकर्षक माना था, उसी के प्रति स्वच्छन्दतावादियों ने अपनी रुचि प्रकट की और शेक्सपीयर के युग को बहुत सराहा, क्योंकि शेक्सपियर ने शास्त्रवादी साहित्य मूल्यों की उपेक्षा की थी । इस अतीतोन्मुख स्वच्छन्दतावाद की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि स्वच्छन्दतावादियों ने मध्ययुगीन साहित्य कला के प्रति पर्याप्त रुचि प्रकट करते हुए शास्त्रवादियों द्वारा अपनाए गये नाटक एवं महाकाव्य आदि साहित्य रूपों की अपेक्षा गीतिकाव्य को विशेष रूप से समृद्ध किया और ओड, सानेट एवं वैलेड आदि गीतिकाव्य के विभिन्न रूपों को अपनाया ।

4. **वैयक्तिक अनुभूति एवं आत्माभिव्यक्ति का चित्रण** - स्वच्छन्दतावादियों ने कभी भी उद्देश्य या प्रयोजन विशेष को लेकर काव्य रचना नहीं की, क्योंकि साहित्य उनके लिये वैयक्तिक अनुभूतियों और आत्माभिव्यक्ति का प्रसाद था । अतएव स्वच्छन्दतावाद की प्रमुख प्रवृत्ति है व्यक्तिवाद और इसमें कवि अपनी दृष्टि, अपनी भावना एवं अपनी रुचि के चित्रण को ही प्रधानता देता है । इस प्रकार स्वच्छन्दतावादियों द्वारा आत्मानुभूति एवं उसकी अभिव्यंजना को ही अधिक महत्व देने के कारण काव्य में वैयक्तिक मनोवेगों को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ और विवेक के स्थान पर भावुकता, आकांक्षा एवं आदर्शवादिता ही विशेष रूप से अंकित हुई तथा कलाकार अरूप की भावना में रमकर स्थूल से अधिक सूक्ष्म को महत्व देने लगा ।इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि स्वच्छन्दतावादियों की काव्य परिधि नव्यशास्त्रवादियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत और उससे सर्वथा भिन्न हो गयी तथा अनेक श्रेष्ठ गीतों की रचना भी हुई ।

5. **प्रकृति के प्रति तीव्र अनुराग** - स्वच्छन्दतावादी कवियों ने स्थूल जगत से दूर अपने स्वयं में या दूर उस अछूती प्रकृति की गोद में शरण ली, जहां यन्त्रयुग का धुआं न पहुंचता हो । इस प्रकार स्वच्छन्दतावादियों ने पौराणिक देवी-देवताओं, अप्सराओं, उर्वशियों और नगर जीवन के राजा - महाराजाओं, सम्राज्ञियों तथा महारानियों के स्थान पर या तो किसी ऐसे एतिहासिक पात्र का वर्णन किया, जो समाज से निर्लिप्त हो, एकांकी जीवन लेकर किसी महासत्य के संधान में व्यस्त हो, अथवा ग्राम्य जीवन के उस निसर्गगत चित्रण की ओर आकर्षण प्रकट किया, जिसमें स्वाभाविक जीवन के आल्हाद से लसित कृषक किशोरियों, ग्राम बालाओं, कृषकों और दूर तक फैली उन्मुक्त प्रकृति के मनोहारी दृश्यों की प्रमुखता थी । विचारपूर्वक देखा जाय तो स्वच्छन्दतावादियों ने प्रकृति के प्रति तीव्र अनुराग प्रकट किया है तथा मुक्त प्रांगण में स्वच्छन्द विहार करते हुए प्रकृति को विभिन्न रूपों में अंकित किया है ।

6. **कल्पना का प्राधान्य** - इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वच्छन्दतावादियों के पास उर्वर कल्पना शक्ति थी और प्राय: सभी स्वच्छन्दतावादी कवियों में कल्पना का प्राधान्य मिलता है तथा उन्होंने कल्पनालोक में उन्मुक्त का विचरण भी किया है । साथ ही उनकी कल्पनाजन्य तत्परता ने प्रकृति के विविध रूपों में अनुभूतियों की ओर उसे रहस्यवादी भी बना दिया । वह प्रकृति के कण-कण में दैवी सत्ता का आभास मानकर प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक सम्बन्ध में बांधकर देखने लगा । इस सम्बन्ध में एबरक्राम्बी ने लिखा भी है -

'वस्तुत: कल्पना ने ही स्वच्छन्दतावादियों की अभिव्यक्ति को प्राचीन कवियों से भिन्न, अद्‌भुत और मनोरम बना दिया तथा उन्होंने अपनी कविताओं में स्थूल की तुलना के लिए सूक्ष्म उपमान

प्रयुक्त किए।' उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध रोमांटिक कवि शैली ने पश्चिमी हवा का प्रभाव बतलाते हुए लिखा है कि सूखी पत्तियां प्रेतों के समान भागती हैं।

7. **सौन्दर्यमयी दृष्टि और एन्द्रियता -** स्वच्छन्दतावाद में दो अनिवार्य तत्व प्रमुख रूप से हैं - सौन्दर्य प्रेम और सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा में सौन्दर्य भावना ही सर्वत्र मिलती है। स्वच्छन्दतावादियों ने सम्पूर्ण प्रकृति को सोन्दर्यमय मानकर यही सन्देश दिया कि सौन्दर्य चिरंतंन है तथा यही सर्वोच्च सत्य भी है।

स्वच्छन्दतावादी काव्य में ऐन्द्रियता का तत्व भी बहुत अधिक है और स्वच्छन्दतावादियों के लिए जीवन संवेगों की श्रृंखला है। उनकी कविताओं में स्पर्श, गन्ध एवं दृष्टिजन्य आनन्द का उल्लेख विशेष रूप से मिलता है।

8. **काव्य शिल्प में क्रान्ति -** वस्तुत: स्वच्छन्दतावादियो ने जहां काव्य-वस्तु में आमूल परिवर्तन का आह्वान किया, वहां उन्होंने काव्य शिल्प - भाषा एवं शैली में भी क्रान्ति उपस्थित की। नव्यशास्त्रवादियों की अलंकारबहुल, दुरूह, कष्टसाध्य भाषा से काव्यधारा को मुक्ति दिलाकर उसे सरल , अकृत्रिम एवं प्रवाहमयी बनाया। इतना ही नहीं उन्होंने नव्यशास्त्रवादियों की भाषा-शैली को चुनौती देते हुए यह भी कहा कि ये कविताएं अर्थात् स्वच्छन्दतावादी रचनाएं मुख्यत: इसीलिए लिखी गई हैं कि सहृदय इसे स्वयंसिद्ध मान लें कि जनभाषा में लिखी हुई कविताओं में काव्यानन्द रहता है, क्योंकि इनमें कुलीनता का अहं नहीं रहता है और यह भाषा तो मात्र अपनी भावनाओं को शुद्ध रूप से अभिव्यक्त भर करती है।

निष्कर्ष

स्वच्छन्दतावाद के इस परिचय से सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि वह कोई दार्शनिक चिन्तन या राजनीतिवाद विशेष नहीं है, अपितु वह तो युगीन समाज रचना में - उसकी चिन्तना में जो- आमूल परिवर्तन उपस्थित हुआ था, उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद साहित्य का एक व्यापक आन्दोलन है और भले ही इस वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही स्वच्छन्दतावाद की व्याप्त को चुनौती दी गयी हो, लेकिन इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्वच्छन्दतावाद की उपलब्धियां कुछ कम महत्वपूर्ण हैं।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद

इटली के तत्ववेत्ता दार्शनिक बेनदोते क्रोचे महान् विचारक एवं मूर्धन्य कोटि के विद्वानों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्होंने कला संबंधी विचारों को अभिव्यक्त करने हेतु एस्थेटिक नाटक ग्रंथ का सृजन किया। इनके विचारों अथवा सिद्धांतों से यूरोपीय साहित्य जगत में एक अद्‌भुत वैचारिक क्रांति का सूत्रपात हुआ। प्रारंभ में ये मार्क्सवाद से प्रभावित थे परंतु बाद में इन्होंने मार्क्सवाद का बहुत अधिक विरोध किया। इनकी मौलिक देन यह है कि इन्होंने कला अथवा काव्य के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद के सिद्धांत को जन्म दिया। इतना ही नहीं, इन्होंने काव्य और कला का विवेचन करते हुए अत्यधिक व्यापक और सूक्ष्म दृष्टि से अभिव्यंजनावाद पर विचार किया। इस वाद का सर्वाधिक प्रभाव जर्मनी पर पड़ा।

क्रोचे के सौंदर्य संबंधी विचार

काव्य एवं कला के क्षेत्र में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सिद्धांत क्रोचे से पूर्व प्रचलित था परंतु क्रोचे ने काव्य एवं कला के लिए सत्यं एवं शिवं को आवश्यक न मानकर केवल सुन्दरम् पर बल दिया। इनका विचार था कि कला सत्य एवं शिव न होकर सुन्दर है। न्याय शास्त्र के अंतर्गत इन्होंने

सत्य को और नीतिशास्त्र के अंतर्गत शिव के महत्व को स्वीकार किया तथा कला एवं काव्य के क्षेत्र में केवल सुन्दरम् को प्रतिष्ठित किया। यद्यपि क्रोचे तलवेत्ता दार्शनिक था परंतु सौंदर्य-सिद्धांत के प्रभाव ने कला और साहित्य सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में इतना व्यापक रूप धारण कर लिया है कि उसके दर्शन की अपेक्षा सौंदर्य-शास्त्र का ही प्रचार और प्रसार अधिक हुआ। क्रोचे ने सौंदर्य का स्पष्टीकरण करते हुए उसकी चार अवस्थाओं अथवा स्थितियों की ओर संकेत किया है।

1. पूर्व आत्म संस्कार, 2. अभिव्यंजना, 3. आनंद, 4. अभिव्यक्ति।

सौंदर्य की प्रथम अवस्था पूर्व आत्म संस्कार है, जिसका संबंध अभिव्यंजना की पूर्वावस्था से है। पूर्व आत्म संस्कार का अभिप्राय संसार की वस्तुओं के उस साक्षात्कार (दर्शन) से है, जो मन को प्रभावित करता है। दूसरी स्थिति अभिव्यंजना है। इसका आशय वस्तु के स्वरूप निर्माण से है। व्यक्ति संसार की जिस वस्तु से प्रभावित हो और उसकी जो मूर्ति अपने मस्तिष्क अथवा हृदय में स्थापित करे, वही अभिव्यंजना से ही सौंदर्य की तृतीय अवस्था आनंद का जन्म होता है और आनंद प्राप्ति के उपरांत कलाकार विभिन्न साधनों शब्द एवं रेखा आदि के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति करता है। क्रोचे ने इन चारों अवस्थाओं में द्वितीय अवस्था अभिव्यंजना को ही श्रेष्ठ माना।

क्रोचे के अभिव्यंजना संबंधी विचार

क्रोचे के अभिव्यंजना संबंधी विचारों को समझने से पूर्व आत्मा अथवा अंतर्मन की उभयात्मक स्थिति को समझना आवश्यक है। आत्मा की अभ्यात्मक स्थिति मानते हुए क्रोचे ने आत्मा की दो प्रकार की क्रियाओं की ओर संकेत किया है-1. विचारात्मक अथवा ज्ञानात्मक क्रिया, 2. व्यवहारात्मक क्रिया।

दोनों कियाओं के उन्होंने दो-दो भेद किए। प्रथम क्रिया विचारात्मक के विषय में क्रोचे ने लिखा-विचारात्मक क्रिया अथवा ज्ञान के दो रूप हैं, ज्ञान स्वयं प्रकाश्य होता है अथवा प्रमेय, कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा प्रज्ञा (बुद्धि) द्वारा प्राप्त ज्ञान व्यष्टि (विशेष) का ज्ञान अथवा समष्टि (सामान्य) का ज्ञान, विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान अथवा उसके परस्पर संबंध का ज्ञान। वास्तव में ज्ञान या तो बिम्ब का उत्पादक होता है या धारक का। इस मत के अनुसार विचारात्मक प्रवृत्ति के दो भेद माने जा सकते हैं- 1. स्वयं प्रकाश्य ज्ञान अथवा प्रतिभा ज्ञान-इसे ही क्रोचे ने सहज ज्ञान अथवा सहजानुभूति की संज्ञा दी है। 2. विचारात्मक ज्ञान।

व्यावहारिक या व्यावहारात्मक क्रिया का आधार संकल्प है। कर्म में इसका फल दृष्टिगत होता है। इसके भी दो भेद किये गये हैं-1. आर्थिक, 2. नैतिक। क्रोचे ने विचारात्मक क्रिया का संबंध तर्कशास्त्र से, आर्थिक का अर्थशास्त्र से और नैतिक का नीतिशास्त्र से माना। इन्होंने स्वयं प्रकाश्य ज्ञान अथवा सहजानुभूति का संबंध काव्य एवं कला से स्थापित किया। अत: यहां हमारा प्रयोजन केवल सहजानुभूति से ही है।

स्वयं प्रकाश्य ज्ञान अथवा सहजानुभूति- क्रोचे ने कला का संबंध स्वयं प्रकाश्य ज्ञान से माना है। यह व्यष्टि का ज्ञान है और कल्पना से उद्‌भुत होता है। इसके द्वारा वस्तुओं के बिम्बों व भावनाओं का निर्माण होता है। इस ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान से पृथक मानते हुए क्रोचे ने स्पष्ट किया कि "स्वयं प्रकाश ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र होता है। वह एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है जो क्षण भर में किसी दृश्य या भावना को अपनाकर उसे साकार मूर्त और सुन्दर रूप देती है। स्वयं प्रकाश ज्ञान बिम्बों की रचना करता हो तो प्रज्ञात्मक ज्ञान बोध की। बुद्धि की सहायता से हम निर्णय

करते हैं कि मनुष्य विचारशील प्राणी है, स्वयं प्रकाश ज्ञान (कल्पना) हमारे मन में एक ऐसे प्राणी का बिम्ब अंकित कर देता है जिसमें विचार करने की क्षमता है।"

सहजानुभूति का अर्थ है- ऐसे ज्ञान जो बिना किसी की सहायता के स्वत: मानव मस्तिष्क में उद्‌भूत हो जाता है। उसका किसी भी प्रकार परंपरा, शास्त्र ज्ञान और संवेदना आदि से कोई संबंध नहीं होता। इसलिए इन्होंने सहज ज्ञान को प्रभाव तथा संवेदना से भिन्न माना है। उनकी मान्यता है-"जब हम किसी वस्तु की प्रत्यक्ष अनुभूति या संवेदन प्राप्त करते हैं, तब हमारा अंतर्मन निष्क्रिय रहता है। बाह्य वस्तु की प्रतीति के निर्माण में अंतर्मन का सहयोग नहीं होता, वह अंतर्मन की उत्पत्ति नहीं होती।" संवेदन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा-संवेदन अपने निरपेक्ष रूप में यांत्रिकता निष्क्रियता है, इसे मानवीय अंतर्मन महसूस करता है, उत्पन्न नहीं करता। क्रोचे की दृष्टि में सहज ज्ञान यांत्रिक और निष्क्रिय न होकर स्वाभाविक रूप से प्राप्त होने वाला ज्ञान है। यह ज्ञान प्रभाव की सक्रिय अभिव्यंजना है।

सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है- क्रोचे की दृष्टि में सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है। कोई भी कलाकार जब किसी वस्तु की झलक मात्र देखता है तो उसे सहजानुभूति अथवा सहज ज्ञान नहीं माना जा सकता। जब कलाकार उस वस्तु का पूर्ण चित्र अपने मन में निर्मित कर लेगा अर्थात् उसका पूर्ण प्रत्यक्षीकरण कर लेगा तब उसे सहजज्ञान अथवा सहजानुभूति अथवा अभिव्यंजना कहा जाएगा। इस प्रकार आंतरिक मन की क्रिया को क्रोचे ने सहजानुभूति अथवा अभिव्यंजना माना है।

अभिव्यंजना ही कला है- क्रोचे ने अभिव्यंजना को अंतर्मन की क्रिया माना और इसी को कला की संज्ञा दी। तात्पर्य है कि क्रोचे के मतानुसार काव्य का कला आंतरिक कृति है जो कुछ बाह्य है, वह कला नहीं।

क्रोचे का कहना है कि यदि कलाकार, किसी वस्तु का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण अपने मन अथवा मस्तिष्क में कर लेता है तो उसे किसी माध्यम चित्रपलक, पत्थर या संगीत स्वरों के द्वारा अभिव्यक्त करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार इनका मत है कि कला की अभिव्यंजना मन में होती है, बाहर चित्रफलक, पत्थर या कागज पर नहीं, स्कॉट जेम्स ने भी क्रोचे के इसी मत को अभिव्यक्त किया है।

डॉ. सिद्धनाथ पांडेय ने निष्कर्ष रूप में क्रोचे की मान्यताओं को ऐसे प्रस्तुत किया है-

1. सहजानुभूति, अभिव्यंजना और कला तीनों पर्यायवाची हैं।
2. कला में विषय और शैली की अभिन्नता रहती है।
3. कला सृजन की प्रक्रिया और कला आस्वादन की प्रक्रिया मूलत: एक ही है।
4. सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति में गुण का नहीं, मात्रा का अंतर है।

अभिव्यंजनावाद पर लगाये गये आक्षेप

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर विद्वानों ने बहुत से आक्षेप लगाए हैं जिन्हें निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है-

1. क्रोचे ने अंतर्मन की अभिव्यंजना को कला माना और बाह्य अभिव्यंजना को गौण। इससे उन्होंने कलाकार को ऐसी स्वच्छंदता प्रदान की जो अव्यवस्था और अराजकता में परिणित हो सकती है, इसमें सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि यदि कलाकार की कला बाह्य रूप धारण नहीं करेगी तो उसके सुन्दर-असुन्दर होने का निर्णय कैसे किया जाएगा।

2. क्रोचे ने सहजानुभूति को वैयक्तिक और अभूतपूर्व माना। यदि कलाकार की सहजानुभूति वैयक्तिक और अभूतपूर्व है तो आलोचक उसकी कलाकृति को देखकर वैसी ही सहजानुभूति कैसे प्राप्त कर सकेगा? वह स्वयं कलाकार की मानसिक स्थिति को कैसे प्राप्त कर सकेगा?

3. इन्होंने कला का अस्तित्व तभी तक माना जब तक वह स्मृति की सहायक वस्तुओं, जैसे-कलम कूंची या छैनी की सहायता नहीं लेती। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होने का दावा कर सकता है।

4. क्रोचे ने जिस अभिव्यंजना को कला का पर्याय माना, वह कलाकार की आंतरिक वस्तु है, फिर उसका जगत और जीवन से क्या संबंध? स्पष्ट है कि इन्होंने अपने सिद्धांत में जगत एवं जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट की है।

5. केवल सहजानुभूति में मग्न रहने और बाह्य अभिव्यक्ति न करने वाले कलाकार को ही क्रोचे ने आदर्श कलाकार माना है। यदि ऐसा ही है तो ऐसे आदर्श कलाकार वास्तविक जगत में कदाचित ही मिलेंगे।

अभिव्यजंनावाद की विशेषताएँ

सत्यदेव मिश्र ने अभिव्यंजनावाद की कुछ विशेषताओं की ओर संकेत किया है, जो इस प्रकार हैं-

(1) अभिव्यंजनावाद का यह निरूपण कला के लिए है, कलाकृति के लिए नहीं। कला की अभिव्यक्ति के लिए कलाकार विवश है (अभिव्यंजना के पूर्णत्व के लिए), क्योंकि यह अनुभूति का सहज और स्वाभाविक उन्मेष है, परं उसे कृति का रूप देना उसके हाथ में है।

कहना यह है कि कला को एक आत्मिक क्रिया के रूप में प्रतिष्ठित करके क्रोचे ने काव्य (कला) का सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं माना।

(2) चूँकि क्रोचे सहजानुभूति को ही अभिव्यंजना कहते हैं, अत: वे अनुभूति और अभिव्यक्ति में कोई भेद नहीं करते। उनकी धारणा है कि जैसे फिल्टर से छना पानी उसी रूप में शुद्ध जल ही होता है। उसी प्रकार विषय-वस्तु और शैली में कोई भेद नहीं होता, वरन् अभिव्यक्त किया हुआ विषय अनुभूत किये हुए विषय का ही व्यक्त रूप होता है।

(3) क्रोचे समग्रवादी सिद्धान्त के पक्षधर हैं। वे कला-कृति के विभिन्न उपादानों (तत्वों) के समग्र रूप पर बल देते हैं। विषय-वस्तु, शैली, पद-योजना, भाव-विचार, अलंकार आदि के विभिन्न तत्वों को खण्ड-खण्ड करके की जाने वाली मीमांसा को वे कलाकृति की हत्या मानते हैं। उनके अनुसार कलाकृति का मूल्यांकन उसकी सम्पूर्णता एवं सावयव अखण्डता के रूप में ही किया जाना चाहिए।

(4) उनकी धारणा है कि जिस प्रकार सौन्दर्य अखण्ड है और उसका श्रेणी-विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार कला भी अखण्ड है, उसकी भी कोटियाँ नहीं हो सकतीं।

मार्क्सवाद की संक्षिप्त रूपरेखा

वर्तमान साहित्य और आलोचना पर मार्क्सवादी विचारधारा की प्रगतिशीलता की दृष्टि से अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। कार्ल मार्क्स के बाद लगभग सभी साहित्यकारों और आलोचकों ने साहित्य पर मार्क्सवादी छाप डाली है। उन्होंने साहित्य की व्याख्या भौतिकवादी दृष्टिकोण से की है। इसके अतिरिक्त उसने समाज और मानव जीवन का यथार्थ रूप साहित्य में रखने का आग्रह किया। इसके साथ ही साहित्य के सन्दर्भ में जीवन मूल्य की पहचान पर भी बल दिया गया। मार्क्स ने समाज और साहित्य के विषय में जो विचार व्यक्त किये, वे अत्यधिक मौलिक और व्यावहारिक थे। उनमें जीवन की वास्तविकता दिखाई दे रही थी। इसी आधार पर कार्ल मार्क्स को प्रमुख विचारक और दार्शनिक स्वीकार किया जाता है। यद्यपि कार्ल मार्क्स ने जीवन की विवेचना आर्थिक दृष्टिकोण से की है तथा साहित्य से उसका कोई संबंध नहीं है, पर उन्होंने जिस अर्थ-प्रधान दर्शन और दृष्टिकोण

की व्यवस्था इस अर्थवादी युग में की, उसका प्रभाव मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर पड़ा। साहित्य समाज का दर्पण होता है, इस आधार पर मानव जीवन पर पड़े प्रभाव से साहित्य कैसे अछूता रह सकता था। साहित्य का मानव जीवन से घनिष्ठ संबंध होता है, इस आधार पर मार्क्स के विचारों से साहित्य का प्रभावित होना अनिवार्य और न्यायसंगत था।

मार्क्सवाद के दर्शन को समाजवाद अर्थात् सोशलिज्म नाम दिया जाता है। समाजवाद का मूल आधार वर्ग-संघर्ष है। जितनी की आदर्शवादी वृत्तियाँ थीं, मार्क्स ने सभी का विरोध किया है। मार्क्स के अनुसार आदर्शवादी वृत्तियाँ एक प्रकार का भटकाव हैं। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को वैज्ञानिक पद्धति सिद्ध किया। मार्क्स ने कला के सामाजिक तत्त्व को अन्य तत्त्वों की अपेक्षा प्राथमिकता दी है।

वास्तविकता यह है कि मार्क्स ने लोकमंगल तथा उपयोगितावाद के सामाजिक दृष्टिकोण को अपने चिन्तन का आधार बनाया। मार्क्स का पूरा सिद्धान्त, चिन्तन और दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है। मार्क्स का यह भौतिकवाद प्राचीन आनन्दवादी दृष्टिकोण का विरोध करता है। मार्क्स ने स्पष्ट रूप से कहा है कि संसार के सभी कार्य आर्थिक दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। जिस कार्य में जितने अनुपात में धन की प्राप्ति होती है, उस कार्य में उतना ही आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्स ने उपयोगितावादी जीवन मूल्यों की स्थापना पर विशेष बल दिया। मार्क्स के इसी सिद्धान्त पर यह प्रभाव पड़ा कि साहित्य में लोकमंगल की भावना ने जन्म लिया।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का साहित्य पर प्रभाव- मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। इस संबंध में डॉ. कृष्णदेव शर्मा की मान्यता इस प्रकार है-

> *"मार्क्स के वर्ग-संघर्ष तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का परवर्ती साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। आगे चलकर तो यह साहित्य का आधार ही बन गया। भारतीय लेखकों में इसका परिष्कृत रूप प्रगतिवाद के रूप में मुखर हुआ। इन लेखकों की रचनाओं के पात्र युग संघर्ष के प्रति अत्यधिक सजग हैं। उनका उद्देश्यपूर्ण संघर्ष भाग्य से ही रहा है। ये लेखक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को ही बदल देना चाहते हैं। वास्तव में मार्क्स का विचार था कि सन्तुलन होने पर ही तथा विषमता का नाश होने पर ही समाज में शान्ति स्थापित हो सकती है। जब तक एक शोषक रहेगा और दूसरा शोषत रहेगा, तब तक अशान्ति, असन्तोष और वर्ग-संघर्ष निश्चय ही रहेगा। इस सबके नाश के लिए यह आवश्यक है कि वर्गभेद पूर्णरूपेण समाप्त हो जाये। परवर्ती साहित्यकारों ने इसके समर्थन में अपनी साहित्यिक रचनाओं में भरपूर आवाज उठाई है।"*

मार्क्सवादी दृष्टिकोण की साहित्यिक व्याख्या- मार्क्स की विचारधारा को सुव्यवस्थित रूप में काडवेल ने प्रस्तुत किया। उसी को मार्क्स की समाजवादी विचारधारा के साहित्यिक रूपान्तरण का श्रेय दिया जाता है। काडवेल ने मार्क्स के विचारों के अनुसार स्वीकार किया है कि साहित्य का जीवन से जो घनिष्ठ संबंध है, उसका आधार आर्थिक व्यवस्था है। साहित्य और जीवन का संबंध आर्थिक व्यवस्था पर टिका हुआ है। साहित्य समाज का दर्पण है, इसका तात्पर्य यही है कि साहित्य समाज के जीवन से प्रभावित होता है। जिस प्रकार का किसी समाज का जीवन होता है, उसी प्रकार का उस समाज का साहित्य होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि साहित्य समाज से प्रेरणा ग्रहण करता है। समाज के जीवन पर आर्थिक दशा का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य की पूर्ण जीवन व्यवस्था तथा उसकी साहित्य संबंधी अवधारणा अर्थ के ढाँचे को ही अपना आधार बनाती है, आर्थिक ढाँचे पर ही आधारित रहती है। मनुष्य की प्रगति में कला और साहित्य दोनों ही सहायता करते हैं। इस प्रकार साहित्य मानव जीवन में परस्पर सामूहिक सहयोग की भावना को जन्म देता है। इसी में साहित्य की सार्थकता है। इस प्रकार साहित्य प्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन

के लिए उपयोगी नहीं है। कला के समान साहित्य का उपयोग भी समाज के निमित्त ही है। यह उपयोग समाज की उपयोगिता से संबंधित है।

कार्ल मार्क्स ने इस विषय में साम्यवाद के आधार पर लिखा है कि आदिकाल के साहित्य में साम्यवादी भावना है। कला भी प्रारम्भ से ही मानव जीवन से संबंधित रही है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि जब-जब समाज की व्यवस्था में विकार उत्पन्न हुआ है, तब-तब कला का संबंध जन-साधारण से नहीं रह गया है। उस समय कला जन-साधारण से निकलकर शासक वर्ग के संकेतों पर नृत्य करने वाली कठपुतली बन गयी है। इसी प्रकार साहित्य भी उस समय शासक वर्ग की इच्छा का दास बन गया है। बाद में पूँजीपतियों ने कला और साहित्य को अपने संकेतों पर नाचने के लिए विवश कर दिया। इस स्थिति के कुछ समय बाद समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया-शोषक और शोषित। जो वर्ग निर्धनों और असहायों को अपने धन के बल पर शोषण कर रहा था, वह पूँजीपति कहलाया। इस प्रकार पूँजीवाद भी सर्वहारा वर्ग का शोषण करता रहा।

कार्ल-मार्क्स के अनुसार जो साहित्य लोक मंगल तथा मनुष्य की स्वतंत्रता के हेतु माना जाता था, वह शोषक वर्ग का अस्त्र बन गया, शोषण का साधन बन गया। साथ ही साहित्य का दुरुपयोग भी होने लगा। इसका कारण साहित्य की रूपरेखा का निर्माण समाज की स्थिति और व्यवस्था के अनुसार होने का नियम है। इस स्थिति में शोषक वर्ग अपने धन से निर्धन साहित्यकारों को खरीद लेता है और अपनी इच्छा के अनुसार उनका उपयोग करता है। इस दशा में साहित्य में धनिकों की प्रशंसा के साथ-साथ उनके ही मतों और सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से समर्थन होता है। मार्क्स ने भौतिकवादी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के साथ-साथ समाज, राजनीति एवं अर्थ-क्षेत्र के संबंध में अपने विचार प्रकट किये हैं, साथ ही उसने साहित्य के संबंध में भी व्यापक एवं गम्भीर रूप से विचार प्रस्तुत किये हैं।

मार्क्सवादी चिन्तन बहुत व्यापक है, जिसे सत्यदेव मिश्र ने चार भागों में विभाजित किया है-

(1) *द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद,*

(2) *इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या अथवा ऐतिहासिक भौतिकवाद,*

(3) *वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त, तथा*

(4) *अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।*

मार्क्सवादी आलोचना का सीधा संबंध प्रथम दो सिद्धान्तों से ही है, अत: यहाँ केवल उन दो की ही संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करना उचित रहेगा।

द्वन्द्वात्मक भौतिवाद- इसे मार्क्स एक सर्वांगीण जीवन-दर्शन मानते हैं। यह दो शब्दों से निर्मित है-द्वन्द्व और भौतिकवाद। इसमें विज्ञान का आधार लेकर पदार्थ की विकास क्रिया को महत्वपूर्ण माना गया है। हीगेल ने प्राणी या चैतन्य विकास की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए स्थिति, प्रक्रिया और समन्वय का उल्लेख किया है।

एंजिल ने इसकी व्याख्या एक उदाहरण से की है। वह उदाहरण था-बीज, उसका अंकुरण, फिर उसका पुन: बीज-रूप में परिवर्तन होना अर्थात् बाली आकर पककर बीज बन जाना। उसने बीज को एक स्थिति माना; बीज का अनेक विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करके अंकुरित होकर पौधे के रूप में बदलना ही प्रक्रिया कहलाता है। बाली आना, पककर बीज बनना समन्वय कहलाता है। मार्क्स ने सामाजिक स्तर पर उसे आर्थिक व्यवस्था के आधार पर स्वीकार किया। सत्यदेव मिश्र की मान्यता है-मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार भौतिक जगत् की सभी वस्तुएँ तथा

घटनाएँ अपने आभ्यान्तरिक विरोध और संघर्ष के कारण द्वन्द्ववादी प्रक्रिया के आधार पर अनवरत रूप से परिवर्तनगामी एवं विकासोन्मुख रहती हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद- आत्मवादी दर्शन यह स्थापित करता है कि मानव-संस्कृति के विकास का आधार चेतना की निरन्तर विकास प्रक्रिया है। यह विचारधारा इतिहास-दर्शन की विचारात्मक या आदर्शवादी व्याख्या कहलाती है, जिसे आध्यात्मिक विकासवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है। हीगेल इस मान्यता के समर्थक थे।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध ही इतिहास के भौतिकवादी सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ। इस सिद्धान्त ने अगोचर, आत्मतत्व या सूक्ष्म को अस्वीकार करते हुए गोचर, स्थूल, आर्थिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के आधार पर ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया स्वीकार की। इसके मूल में संघर्ष को माना गया, जिसे द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का नाम दिया गया।

इस सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) **विकास का आधार संघर्ष-** इतिहास का विकास शान्त एवं सहज रूप में नहीं होता। उसका आधार संघर्ष है अर्थात् संघर्ष सतत कार्यशील रहता है। यह संघर्ष शान्त भी हो सकता है और क्रान्ति के रूप में रक्त-क्रान्ति का रूप भी ले सकता है। संघर्ष का कोई नियम नहीं है। विकास की प्रक्रिया में वह किसी भी रूप (राजनीतिक, सामाजिक, रीति-रिवाज, नैतिक, आर्थिक, दार्शनिक आदि) में हो सकता है।

इस दर्शन की व्याख्या करते हुए एंजिल्स ने मार्क्स की समाधि पर स्पष्ट किया-"मार्क्स का एक महान् कार्य मानव-इतिहास में विकास के नियम की खोज था, उसने अब तक विचारधाराओं के झाड़-झंखाड़ में छिपे हुए इस सरल तथ्य का पता लगाया था कि मनुष्य जाति को राजनीति, विज्ञान, धर्म आदि का विकास करने से पहले खाने-पीने की, निवास की और कपड़ों की आवश्यकता है। अतएव एक निश्चित समय में, एक निश्चित जाति में जीवन-निर्वाह के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन एवं आर्थिक विकास की मात्रा एक ऐसी नींव होती है, जिस पर उस जाति की राज्य-विषयक संस्थाएँ, कानूनी विचार, कला तथा धार्मिक विचार आधारित होते हैं, अत: इसी दृष्टि से उन सब वस्तुओं की व्याख्या की जानी चाहिए।"

(2) **आर्थिक नियंत्रण-** यह स्वीकार किया गया कि सम्पूर्ण व्यवस्था एवं विकास की प्रक्रिया आर्थिक स्थिति द्वारा निर्धारित होती है, क्योंकि यह अर्थ ही उत्पादन का साधन और वितरण व्यवस्था का आधार है। 'भोजन' मनुष्य के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, अत: सर्वाधिक महत्व भोजन उत्पादन पर केन्द्रित रहता है। अर्थ समस्त उत्पादन के साधनों और वितरण पर नियंत्रण रखता है। अत: पूँजीपति इन साधनों पर एकाधिकार कर लेते हैं, जिसका परिणाम संघर्ष होता है जो सामाजिक असन्तोष को जन्म देता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'अर्थ' या उस पर एकाधिकार रखने वाला वर्ग सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था, नियम-कानून, सामाजिक-नैतिक मान्यताओं, नियम यहाँ तक कि धर्म आदि पर नियंत्रण रखता है।

आर्थिक कारणों के आधार पर मानव-इतिहास के पाँच विभाग किये गये-

(i) *आदिम साम्यवादी*

(ii) *दास पद्धति-काल*

(iii) *सामन्तवादी व्यवस्था*

(iv) *पूँजीपति व्यवस्था, तथा*

(v) *साम्यवाद*

उसने यह घोषणा की कि पिछले तीन युग समाप्त हो गये, पूँजीवादी युग चल रहा है, साम्यवादी युग आयेगा।

(3) **आर्थिक नियंत्रण जटिल-** मार्क्स ने यह भी स्वीकार किया कि आर्थिक नियंत्रण के माध्यम से विकास की प्रक्रिया सरल नहीं होती। इसे राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में तो समझना अपेक्षाकृत सरल है, पर धर्म और साहित्य के संदर्भ में समझना जटिल व्यापार है, अत: इसका अध्ययन सावधानी एवं सतर्कता से करना चाहिए।

(4) **विशिष्ट आर्थिक व्यवस्था-** इस मान्यता के अनुसार जैसी अर्थव्यवस्था होगी, वैसा ही दर्शन, संस्कृति और धर्म-संस्कारों का स्वरूप बनेगा। उस व्यवस्था के नाम भी अलग-अलग होंगे। यथा-सामन्तवाद, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि और इन अलग-अलग व्यवस्थाओं में चिन्तन की पृथकता होने के कारण संस्कृति और साहित्य आदि का रूप भी भिन्न होगा।

(5) **पूँजी का केन्द्रीयकरण-** मार्क्स की मान्यता है कि पूँजी की एक सहज प्रवृत्ति है-अधिक हाथों से कम हाथों में एकत्रित हो जाना। यह स्थिति समाज में वर्ग उत्पन्न कर देती है-पूँजीवादी वर्ग, पूँजीहीन वर्ग या सर्वहारा वर्ग। उत्पादन की सारी शक्ति पूँजी में केन्द्रित होने के कारण पूँजीवादी वर्ग को उत्पादक वर्ग और दूसरे को श्रमिक वर्ग कहा जाता है। इस श्रमिक वर्ग को 'सर्वहारा' वर्ग कहते हैं। स्वाभाविक है कि उत्पादन के समस्त स्त्रोत पूँजीवादी हाथों में सीमित हैं और इसे ही वर्ग-संघर्ष का कारण स्वीकार किया गया।

(6) **वर्ग-संघर्ष-** वर्ग-संघर्ष आवश्यक है, क्योंकि पूँजी के केन्द्रीयकरण के कारण विषमता बढ़ती है और यह विषमता वर्ग-संघर्ष का कारण है। उनकी मान्यता है कि तीव्र एवं व्यापक वर्ग-संघर्ष द्वारा ही सर्वहारा वर्ग अपनी जन-शक्ति एवं संगठन-शक्ति के कारण, पूँजीपतियों एवं उनकी क्रूर व्यवस्था और उसे बनाये रखने के संघर्ष को परास्त कर सकता है। इसे क्रान्ति कहा जाता है।

(7) **मानव-कल्याण की भावना-** उनका चरम लक्ष्य जन-कल्याण है, क्योंकि उनकी धारणा है कि मार्क्सवाद ही ऐसा सिद्धान्त है जो मानवता का कल्याण कर सकता है।

(8) **व्यक्ति और समाज-** साम्यवाद व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष इकाई नहीं मानता। समाज ही व्यक्ति को व्यक्तिवाद प्रदान करता है। अत: समाज के सामने व्यक्ति का महत्व गौण है। व्यक्ति के विचार और आदर्श समाज की आर्थिक स्थिति के ही परिणाम हैं। समाज की भौतिक स्थिति का परिवर्तन चिन्तन की दिशा बदल देता है।

मनोविश्लेषणवाद का संक्षिप्त परिचय

मनोविश्लेषणवाद मानव-मन के विश्लेषण करने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है, जिसका जन्मदाता वियना का मस्तिष्क-चिकित्सक सिगमण्ड फ्रायड को स्वीकार किया जाता है। इस पद्धति पर पर्याप्त विचार हुआ है, पर विशेष महत्व एडलर और कार्ल जुंग को ही दिया जाता है।

फ्रायड ने सन् 1881 में मस्तिष्क-चिकित्सक के रूप में व्यवसाय प्रारम्भ किया। इससे पूर्व उसने अपनी शिक्षा रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और शरीरशास्त्र के माध्यम से पूरी की थी। उसने यह स्वीकार किया है कि 'सम्मोहन' द्वारा मानसिक चिकित्सा सुगम है। इस सम्मोहन-चिकित्सा पद्धति का अध्ययन उसने पेरिस जाकर वहाँ के प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क-चिकित्सक डॉक्टर चारकोट के साथ किया। उसका निष्कर्ष था कि सम्मोहित अवस्था में व्यक्ति से वे सारे रहस्य जाने जा सकते हैं जो इससे विपरीत दशा में शायद प्रकट न हो सकें। अत: सम्मोहन व्यक्ति के अचेतन तक पहुँचने का सहज साधन है। यह भी माना जाता है कि मानसिक विकृति के दो कारण हैं-भूली हुई अथवा भुलाई गई घटनाएँ और दमित इच्छाएँ। अत: सम्मोहन, स्वच्छन्द विचार, सामाजिक अवरोध-हीनता, उसकी पुरानी स्मृतियों को जीवित करने और सहज स्वस्थ होने में सहायक है।

फ्रायड के ग्रन्थ- फ्रायड का साहित्य पर्याप्त विस्तृत है, किन्तु इसकी प्रसिद्धि का आधार एक पुस्तक है जिसका सीधा संबंध 'मनोविश्लेषण' से है। इसके अंग्रेजी रूपान्तर का नाम है 'एन आउटलाइन ऑफ सायको-एनालायसिस'।

मनोविश्लेषणवाद की प्रमुख विशेषताएँ

फ्रायड ने इस प्रक्रिया में जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों का आधार लिया है-

(1) **मानव व्यक्तित्व का शिल्पीकरण-** इन्होंने मानव व्यक्तित्व के शिल्पीकरण की प्रक्रिया में तीन तत्वों को स्वीकार किया-इदम्, अहम्, अति अहम्।

(i) **इदम्-** यह एक प्रकार की ऊर्जा है, जिसका कार्य प्रतिवर्ती क्रियाओं एवं विभ्रमों के निराकरण या परितोष में होता है। इसे तनाव-मुक्ति में सहायक मानते हुए 'सुख-सिद्धान्त' की संज्ञा दी गयी।

(ii) **अहम्-** इसका विकास संज्ञा-प्राप्ति एवं बौद्धिक विकास के बाद परिवार के संसर्ग में आने पर होता है। यह इदम् को व्यवस्थित रखता है तथा इदम् के परितोष के लिए मार्ग निर्धारित करता है। 'चेतना' जो एक क्षणिक तत्व है, अहम् का भौतिक गुण है। इसका कार्य 'सहज वृत्तियों' जिसे इदम् कहते हैं, की पूर्ति करने के साधन जुटाना भी है। इस कारण यह वास्तविक सिद्धान्त स्वीकार किया गया।

(iii) **अति अहम्-** यह वह वृत्ति है जिस पर दो तत्व शासन करते हैं-(a) अहं आदर्श, (b) विवेक अथवा अन्तःकरण। अहं आदर्श का निर्माण, सामाजिक-पारिवारिक आदर्श, जीवन-मूल्य, नैतिक-सांस्कृतिक मान्यताओं आदि से होता है। इसे आदर्शवादी या पूर्णतावादी सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

मानव व्यक्तित्व का शिल्पीकरण अपनी विकसित काम-प्रकृति तथा परिवार से सन्दर्भित काम-वासनाओं द्वारा होता है। फ्रायड शिशु को प्रारम्भ से ही काममूलक मानता है। तेरह वर्ष की अवस्था से रति-इच्छाएँ बलवती होने लगती हैं और वह नवीन काम-चेतना से उद्वेलित हो उठता है। इस अवस्था में 'इदं', 'अहम्' और 'अति-अहं' से एक सन्तुलित स्थापित हो जाता है। सन्तुलन का अभाव विकार का कारण बनता है।

(2) **वृत्तियों की अवधारणा-** वृत्ति सहज होती है, उसका कोई लक्ष्य भी होता है तथा लक्ष्य-प्राप्ति के साधन भी होते हैं। जो तत्व उन वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं, उन्हें संवेग कहा जाता है। शारीरिक उत्तेजना को वृत्ति की जाग्रति का आधार माना जाता है। वृत्ति जाग्रत होकर जब अपने तथ्य की ओर बढ़ती है तो व्यक्ति का अहं और अति-अहं उसमें बाधक हो उठता है। किसी रूपसी को देखकर जो उत्तेजना अनुभव होगी, वही काम-वृत्ति का उद्गम होगी। यदि पूर्ति हो गयी तो सहज स्थिति आ जायेगी अन्यथा तनाव बढ़ता रहेगा।

(3) **चेतन, अचेतन एवं अर्द्ध-चेतन-** फ्रायड ने मन के तीन स्तरों को स्वीकार किया है-

(i) **चेतन-** उनकी धारणा है कि वृत्यात्मक ऊर्जा (मूलवृत्ति) जब प्रबल हो उठती है और उत्तेजित मन अपनी भावनाओं को शब्द देने में सफल हो जाता है, तब मन का यह स्तर चेतन कहलाता है या जिस अवस्था में भावनाओं तथा विचारों का मनुष्य को शीघ्र शोध हो जाता है, उसमें अहम् की प्रधानता रहती है।

(ii) **अचेतन-** जब यह वृत्तात्मक ऊर्जा अहं या अति-अहं के कारण सबल नहीं हो पाती, उत्तेजित मन का संबंध शब्दों से स्थापित नहीं हो पाता, तो भावनाएं कुण्ठित होकर मन के उस स्तर पर पुंजीभूत हो उठती हैं, जिसे अचेतन मन कहते हैं।

हृदय के अधिकांश अंग अचेतन मन पर भी घनीभूत होते हैं अर्थात् व्यक्ति की अधिकांश भावनाएँ एवं मनोविकार अचेतन में ही दबे रहते हैं अथवा यों कह सकते हैं कि अचेतन मन जीवन के सभी अनुभवों एवं अभुक्त वासनाओं को सुरक्षित रखने वाला केन्द्र है। फ्रायड इसे ही मनुष्य के आचार-विचार, व्यवहार-स्वभाव आदि को प्रकट करने वाली प्रमुख शक्ति मानता है।

(iii) **अर्ध-चेतन-** यह अचेतन का ही एक रूप है।

(4) **'काम' की अवधारणा-** फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'काम-सिद्धान्त' ही है। उन्होंने जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा प्रबल शक्ति काम को ही माना है। उन्होंने उसका नामकरण 'लिबिडो' किया।

काम-वासनाओं का विकास चार प्रकार से होता है-

1. मुखगत, 2. गुदागत, 3. लैंगिक, 4. जननेन्द्रियगत।

फ्रायड शिशु को जन्म से ही काममूलक मानते हैं। मुखागत काम-ऊर्जा के कारण वह माँ के स्तनपान और अँगूठा चूसने में आनन्द का अनुभव करता है। फ्रायड यह स्वीकार करता है कि मल-त्याग में जो आनन्द होता है, वह गुदागत है। उसे इस अवस्था में अहं या अति-अहं ने प्रभावित नहीं किया है और यौवन की स्थिति आते ही उसकी सहज स्थिति में काम-सुख फिर कामेन्द्रियों पर स्थित होने लगता है। तेरह वर्ष की अवस्था में रति-चेतना जाग्रत होती है और उस समय दो ग्रन्थियों का विकास हो उठता है-

(क) **इडिपस कॉम्प्लेक्स-** यह उसके मन में विषमलिंगी के प्रति कामेच्छा और समलिंगी के प्रति ईर्ष्या की भावना जगाती है। इस अवस्था में पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती— अनेक विरोध (अहं, अति-अहं आदि) उपस्थित हो जाते हैं और इच्छाएँ दमित हो जाती हैं, पर ये मर नहीं जातीं, अचेतन में एकत्रित हो जाती हैं।

(ख) **कास्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स-** इसे मनोग्रन्थि भी कहा गया है। इस ग्रन्थि के विकास तक पूर्ण यौवन की स्थिति आ जाती है।

काम की अतृप्ति- दमित कामेच्छाएँ या अतृप्त कामेच्छाएँ जो अचेतन में एकत्रित होती रहती हैं, स्वप्न के रूप में फूटती हैं और सामान्य जीवन में अनेक भूलें कराती हैं। ये वासनाएँ जब अत्यधिक प्रबल हो उठती हैं, तब अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, यथा-हिस्टीरिया आदि और व्यक्ति अपराधी होकर दुराचारी तक हो सकता है।

(5) **दमित वासनाएँ और साहित्य-** जन्मकाल से 'काम' की वृत्ति होने के कारण 'काम' मानव की मूल एवं सर्वाधिक शक्तिशाली प्रवृत्ति है। फ्रायड मानव-जीवन के सभी क्रिया-व्यापारों के मूल में 'काम' को स्वीकार करता है, पर यह वृत्ति निरन्तर दबायी जाती है। इसके फ्रायड ने दो कारण स्पष्ट किये हैं-

(i) **सामाजिक अवरोध-** इसे फ्रायड ने अहं और अति-अहं के अन्तर्गत रखकर स्पष्ट किया है।

(ii) **मानसिक-** इसके अन्तर्गत फ्रायड ने मानसिक चिन्ताओं का उल्लेख किया है। ये तीन प्रकार की मानी गयी हैं-

(क) **वस्तुनिष्ठ-** *किसी बाहरी भय के कारण यह चिन्ता उत्पन्न होती है।*

(ख) **स्नायुविक-** *यह चिन्ता अहं के उल्लंघन के भय से उत्पन्न होती है।*

(ग) **नैतिक-** *अति अहम् का अतिक्रमण करने का भय इस चिन्ता को उभारता है।*

इस प्रकार यह स्वाभाविक हुआ कि वासनाओं की पूर्ति भी होती है और दमन भी। यह दमन कई कारणों से होता है-अहं, अति अहम्, बाह्य भय, सामाजिक भय, नैतिक भय। ये दमित वासनायें अचेतन में समाती रहती हैं, शान्त नहीं होतीं। इनके फूटने के तीन स्वरूप फ्रायड ने स्वीकार किये हैं-

(i) **मानसिक रोगों के रूप में-** ये विकृतियाँ फूटकर अनेक मानसिक रोगों का रूप ले लेती हैं। यथा-हिस्टीरिया, मानसिक विक्षिप्तता आदि।

(ii) **मानसिक विकारों के रूप में-** जब मूल प्रवृत्तियों का दमन, अविद्यात्मक रूप लेकर फूटता है तो पाप-कर्मों की ओर धकेल देता है।

(iii) **उदात्त रूप में-** ये वृत्तियाँ जब उदात्त रूप में फूटती हैं तो कला, साहित्य, धर्म, और संस्कृति का रूप धारण करती हैं। कला और साहित्य फ्रायड के अनुसार दमित वासनाओं के उदात्त रूप में प्रकट होने का ही फल है।

फ्रायड ने 'द रिलेशन ऑफ पोइट टू डे-ड्रीमिंग' में इस तथ्य को स्पष्टत: स्वीकार भी किया है कि कवि-कलाकार अपनी दमित वासनाओं के समाज के भय के कारण कला के रूप में परिवर्तित कर देता है।

कार्ल जुंग- इनके अनुसार भी 'काम' मानव-जीवन की मूल प्रवृत्ति और उसके समस्त क्रियाकलापों की निर्णायक एवं प्रेरणादायक शक्ति है। काम के वेग को गतियुक्त और ठहराव से युक्त मानते हुए इन्होंने यह स्पष्ट किया है-प्रारम्भ में यह वेग 'आहारगत' होता है-फिर 'रत'। वीर्य की उत्पत्ति होते ही यौवनावस्था की स्थिति आती है। इसके अवरोध में व्यक्ति जीवन में खालीपन अनुभव करता है, पर काम अपने उद्देश्य की ओर गतिमान रहता है। उन्होंने इसकी दो दशायें मानी हैं-

(1) **अन्तर्मुखी प्रवाह-** इस प्रवृत्ति का व्यक्ति भावुक, पलायनवादी व लचीला होता है।

(2) **बहिर्मुखी प्रवाह-** इस प्रवाह के कारण व्यक्ति में साहस एवं कर्मचेतना का संचार होता है।

जुंग की साहित्य-संबंधी मान्यताएँ—

जुंग ने फ्रायड की अपेक्षा साहित्य व कला पर अधिक विचार किया है, जो इस प्रकार है-

(1) उनके अनुसार कला का मूल उत्स सामूहिक संस्कारगत मूल प्रवृत्तियों से है। उसमें अवचेतन मन की वैयक्तिक प्रवृत्तियों की भूमिका रहती है।

(2) जुंग के अनुसार कला-सर्जना के दो प्रकार हैं- (i) मनोवैज्ञानिक, तथा (ii) अभ्यासगत। मनोवैज्ञानिक कला-मनुष्य के चेतन मन से अपनी सामग्री जुटाती है और उसके सामान्य अनुभवों को लेकर काव्य-अनुभूतियों को व्यक्त करती है। इस प्रकार रचना-प्रक्रिया का मूल उत्स उसने मानव-मन के समयातीत संस्कार को माना है।

(3) जुंग कला के मूल उत्स को मानव को अंतश्चेतन में युग से संचित कालातीत संस्कार को मानता है। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों और बहिर्वृत्तियों के सामंजस्य से ही यह उत्स काव्य-कला की भागीरथी में बदलता है।

(4) पहले संचित संस्कार द्वारा आदर्श स्थापित किये जाते हैं। ये आदर्श देश-कालातीत होते हैं। इसके पश्चात् उन स्मृतियों, प्रतीकों एवं प्रतिभाओं को जगाया जाता है, जो अवचेतन में दबी रहती हैं।

(5) कवि रसानुभूति करता है। उसकी आनन्दानुभूति में विभिन्न उपमान, प्रतीक और कल्पनाएँ निश्चित शिल्प में बँधकर काव्य के रूप में प्रसूत हो जाते हैं।

अल्फ्रेड एडलर- एडलर ने 9 वर्ष तक फ्रायड-स्कूल ने मनोवैज्ञानिकों के चेयरमैन के रूप में कार्य किया था। सन् 1911 में इन्होंने अपना अलग स्कूल खोला था। इनके सिद्धान्तों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

(1) **व्यक्तित्व-निर्माण-** एडलर, फ्रायड की भाँति मानव-विकास में जैवीय शक्तियों को नहीं मानते। वे उसके विकास में सामाजिक शक्तियों की महत्ता स्वीकार करते हैं। फ्रायड के 'काम' सिद्धान्त उन्हें अमान्य हैं। उनके इस सिद्धान्त का मूल्यांकन करते हुए दुआने ने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक मनोविज्ञान का इतिहास' में लिखा है-"Adler like Freud, recognized the importance of the early formative years of childhood, but Alder's focus was a social and not biological forces."

अर्थात् एडलर ने फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व-निर्माण और विकास में बाल्यकाल का महत्व तो स्वीकार किया, किन्तु एडलर का समस्त बल सामाजिक शक्तियों पर रहा, जैवीय शक्तियों पर नहीं।

इन्होंने 'काम' को जीवन का मूल-केन्द्र न मानकर 'अहं' को महत्व दिया। फ्रायड जहाँ मानसिक रोगों का कारण 'काम-कुण्ठा' को मानता है, वहीं एडलर 'अहं की माँग' या 'अहं के आग्रह' को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अहं की तुष्टि न हो सकना इसका कारण है।

(2) **श्रेष्ठत्व-** फ्रायड जीवन के सभी क्रिया-कलापों के मूल में 'काम' को स्वीकार करता है, वहीं इनकी धारणा है कि, "श्रेष्ठत्व की प्राप्ति का उद्देश्य ही मानवीय क्रिया का मूल है।"

दुआने ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है, "This final goal towards which all men strive, as superiority which comprises more complete and perfect development, accomplishment fulfilment and realisation of the self."

अर्थात् मनुष्य जिस उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील है, वह उत्कृष्टता या श्रेष्ठत्व ही है, जिसमें पूर्ण विकास, पूर्णता, गुण-सम्पन्नता और आत्मानुभूति की भावना निहित है।

एडलर की मान्यता है शिशु का शारीरिक, फिर मानसिक विकास श्रेष्ठत्व प्राप्त करने का प्रयास ही है। मानव का सामाजिक, राजनीतिक विकास का आधार भी यही है। एडलर ने स्वयं स्वीकार किया है-"The argue from 'below' to 'above' never ceases (this is) the fundamental facts of our life."

अर्थात् नीचे से ऊपर जाने की उत्कंठा कभी समाप्त नहीं होती, यह हमारे जीवन का आधारभूत तथ्य है।

(3) **हीन-भावना-** एडलर के अनुसार हीन-भावना विकास का मुख्य आधार है, क्योंकि व्यक्ति के पास जो नहीं है, उसे वह प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि 'अक्षमता' से व्यक्ति का अहं आहत हो उठता है और उसकी क्षतिपूर्ति हेतु वह क्रियाशील हो उठता है। अत: एडलर के अनुसार मन के समस्त क्रिया-कलापों का आधार 'हीनत्व' की भावना है। फिलिप हैरीमन ने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है-"An attitude of inferiority develops when an individual feels deficient on comparisons with others. He postulates a basic striving for superiority or self-assertion which leads a person with an attitude of inferiority to seek to compensate."

यह हीनता की भावना जब और अधिक उग्र रूप धारण कर लेती है, तब आदमी स्वयं को दूसरों की अपेक्षा हेय अनुभव करता है। उसके मन में श्रेष्ठतम प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा जाग्रत हो उठती है, यही स्पर्धा उसे हीनत्व-भाव से मुक्ति दिलाने के लिए प्रेरित करती है।

एडलर की साहित्य-संबंधी कोई मान्यता उपलब्ध नहीं है।

मनोविश्लेषणवाद और हिन्दी आलोचना–डॉ. कृष्णवल्लभ जोशी के अनुसार-"डॉ. नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय प्रमुख रूप से इससे प्रभावित रहे हैं। डॉ. नगेन्द्र ने तो छायावाद को 'काम'-प्रेरित माना है।"

अस्तित्ववाद संसार की आधुनिकतम विचारधारा के रूप में एक विशिष्टता रखता है। यह मूलत: दार्शनिक प्रणाली है पर साहित्य अथवा काव्य में भी इसका विशेष प्रभाव लक्षित होता है। इसका समग्र विवेचन फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक ज्यांपाल सार्त्र ने किया है और उसे जर्मनी के हसरेल, हेंगेगर तथा डेनमार्क के कीर्क-गार्ड ने और आगे बढ़ाया है। आज अस्तित्ववादी विचारधारा किसी स्थान अथवा देश तक सीमित न रहकर समग्र विश्व के विचारकों द्वारा मान्य हो चुकी है।

अस्तित्ववाद का स्वरूप- अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट गतिरोध अथवा संक्रांति का वर्णन है। यह संकटापन्न स्थिति ही इस विचारधारा के प्रति अन्यान्य विचारकों के आकर्षण का कारण है। इसके अनुसार हमारी आध्यात्मिक स्थिति के मूल में संकट विद्यमान है। प्रत्येक सत्य जो अनेक अनुभवों से ज्ञात होता है वह भी सहस्त्रों अनावश्यक असत्यों से आवेष्टित रहता है, परिणामत: वह जल्दी ही लुप्त हो जाता है। फलत: लक्ष्यविहीन अशांत रहती है और आंतरिक ज्ञान अंधकारपूर्ण हो जाता है। इसका फल यह होता है कि अंध श्रद्धा को कार्य का आधार मान लिया जाता है। अस्तित्ववाद इस आध्यात्मिक संकट की व्याख्या कर प्रतिभा से दूर करने का प्रयत्न करता है। इसे पराभववाद का नाम भी दिया जाता है। यह एक आध्यात्मिक मन:स्थिति का वातावरण है। यह दर्शन काव्यात्मक दर्शन है। इसके प्रभाव से लिखा गया काव्य भावात्मकता की ओर अधिक झुका होता है यद्यपि इसमें प्रधानता तर्क की भी होती है।

अस्तित्ववाद अस्तित्व को सारतत्व से अधिक प्रधानता देता है। सारतत्व दो प्रकार का होता है। समष्टिगत तथा व्यष्टिगत। समष्टिगत सारतत्व एक ही जाति के सभी पदार्थ में ही पाए जाते हैं और व्यष्टिगत सारतत्व किसी विशिष्ट पदार्थ में ही पाये जाते हैं। पहले प्रकार के तत्वों में विवेक रहता है और उन्हीं तत्वों के कारण एक जाति दूसरी जाति से भिन्नता ग्रहण करती है, जैसे मानव-जगत के समष्टिगत सारतत्व ही उसे पशु से भिन्न करते हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्ववाद में होता है पहले उसकी कल्पना कर ली जाती है। यदि ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानी जाए तो यह सिद्ध होता है कि उससे पहले इस जगत की कोई कल्पना अवश्य की होगी। इस सारतत्व को अस्तित्व से भी अधिक महत्ता दी गई है। कारण मनुष्य पहले निम्न धरातल पर रहता है और उस समय तक प्रकृति के निम्न अस्तित्वों के जगत में रहता है। पर जब वह उच्च धरातल पर पहुंच जाता है तो अस्तित्वों से निकलकर सारजगत् में पहुंच जाता है और फिर वहां कोई कामना नहीं रहती।

अस्तित्ववाद में यह क्रम विपरीत हो जाता है। अस्तित्ववादियों ने सारतत्व के स्थान पर अस्तित्व को ही प्रधानता दी है। कारण, व्यक्ति की रुचि तो केवल उन पदार्थों में ही रहती है जिनका अस्तित्व है। अस्तित्ववादियों का विचार है कि जो सत्य है उसका अस्तित्व है, जिसका भी अस्तित्व

है, वह सार है। अत: अस्तित्ववादी विचारक प्रत्येक प्रत्यक्ष सत्ता का अस्तित्व मानता है और उसे सत्य मानता है।

अस्तित्ववाद का विकास- अस्तित्ववाद का विकास पराभववाद से हुआ है। सारतत्व की विवेचना करते समय दार्शनिकों के जीवन को उसी के अंतर्गत माना है। आध्यात्मिक संकट के परिष्करण के लिए 19वीं शताब्दी में दो मार्गों का आश्रय लिया आदर्शवाद और निश्चिवाद का। आदर्शवाद एक ऐसे दर्शन का निर्माण करता है जो अपने विचारों के अतिरिक्त किसी अन्य बाह्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता। पर निश्चिवाद ज्ञान तथा दैवी कृपा के स्थान पर संसार के सामाजिक व प्राकृतिक वास्तविक तथ्यों की सत्ता को मानता है। इन दोनों विचारों से दो नये रूपों का जन्म हुआ-पहले से उत्कृष्ट मानववाद की सृष्टि हुई तथा दूसरे से आकर्षक वस्तुवाद का जन्म हुआ। कला के क्षेत्र में यही धारणाएं स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद के रूप में प्रस्फुटित हुई।

बाद में स्वच्छंदतावादी विचारधारा इतनी प्रबल हो गई कि पुन: दर्शन के क्षेत्र में संक्रांतिकाल आया जो बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक रहा। इस समय अनास्था का जन्म हुआ और अराजकता की स्थिति बनी रही। इस समय अस्तित्ववादी विचारधारा एक फैशन के रूप में आयी, जिसे लोगों ने पराभववाद के रूप में स्वीकार किया।

प्रारंभ में पराभववाद साहित्य के क्षेत्र में साहसिकता के रूप में उदित हुआ और इसी से जर्मनी में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्ववाद आशा के स्थान पर इसलिए निराशा को महत्व दिया करता है और यह मानता है कि कोई भी स्थिति तभी तक रह सकती है जब उसके साथ अस्तित्व का भी आनंद हो। डॉ. प्रतापनारायण टंडन के अनुसार, "यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा युग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।"

अस्तित्ववादी विचारधारा युग-संस्कृति में आए हुए पराभव के तत्वों की सैद्धांतिक व्याख्या करती है। यह मानव तथा उसके अस्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य बात पर ध्यान नहीं देती।

इसकी शैली व भाषा काव्य में प्रयुक्त होने के कारण सौंदर्यवादी है। इसके साहित्यिक प्रभाव का भी अनेक ग्रंथों में वर्णन हो चुका है। विशेष रूप से, अस्तित्ववादी मृत्यु के विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। लियोपेड ने इटली की साहित्यिक तथा आध्यात्मिक परंपरा में अस्तित्ववाद का प्रभाव दिखाने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त हेडेगर ने मानव अस्तित्व के वे जीवित चित्र प्रदर्शित किये हैं, जो साहित्य के सबसे अधिक निकट हैं।

अस्तित्ववाद का साहित्यिक स्वरूप- अस्तित्ववाद के साहित्यिक स्वरूप को समझने के लिए उसके दार्शनिक स्वरूप को समझना आवश्यक है। दर्शन में प्रत्येक अस्तित्ववादी इसे आत्मचेतना से आरंभ करता है, जिसे वह आंतरिकता कहता है। वह अपने व्यक्तित्व को पृथक रखकर देखता है और पाता है कि इस असीम जगत के विस्तार में उसका अंश कितना सीमित और हेय है। इस विशाल शून्य के समक्ष संपूर्ण ब्रह्मांड अत्यंत क्षुद्र है। इसे असीम कहकर नहीं टाला जा सकता, यह मानवीय कल्पना से परे है। इसके एक छोर पर क्षुद्रता और दूसरे छोर पर निस्सीमता है। एक ओर मानव की स्थिति है और दूसरी ओर निस्सीम शून्य की, इन दोनों ही छोरों से अस्तित्व विद्यमान है।

पर मनुष्य अपनी क्षुद्रता के साथ असीम की प्रतीति से संबंध रखता है-तथा निस्सीमता है वहां क्षुद्रता भी है, पर अस्तित्व दोनों का ही है, लेकिन मानव अपनी सीमा को स्थिर रखने के लिए अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए रक्षात्मकता प्रक्रिया करता है, जो भय की भावना पर आधृत होती है। प्रतिक्रियाएं दो प्रकार की होती हैं।

1. **भयमिश्रित, रक्षात्मक विरोध की प्रतिक्रिया-** इसका विवेचन सार्त्र ने किया है कि उसके विद्रोह चाहे कितनी ही हीन और क्षुद्र क्यों न हो, पर उसकी चेतना का उद्घोष तो करते ही हैं।

2. **धार्मिक और ईश्वरपरक स्वीकृति-** भय की भावना से इसकी प्रतिक्रिया होती है, इसका स्वीकरण कॉलरिज, कीर्कगार्ड व शेलिंग ने किया है। इस प्रतिक्रिया में मानव विद्रोह नहीं करता, उसे स्वीकार करके अपने विचारों को धार्मिकता की ओर मोड़ देता है। उस असीम विस्तार से डरकर अपने को उसी असीम के प्रति समर्पित कर देता है और ऐसी दशा में वह एक ऐसी शक्ति की कल्पना कर लेता है, जो इस महान यंत्र को संचालित करती है।

अस्तित्ववाद के विचारों की समीक्षा- अस्तित्ववादी विचारकों का विचार है कि मनुष्य सार्वभौम तत्व का निर्माण नहीं कर सकता, परंतु अपने व्यक्तिगत सारतत्व के द्वारा एक विशिष्ट मानव अवश्य बन जाता है। 'सार्त्र' का तो यहां तक कहना है कि व्यक्ति की जाति, चेतना, कार्य का स्वरूप उसके विचार और भाव भी उसके निर्माण के हेतु हैं। मनुष्य आज तो कुछ भी हैं उसका भविष्य इसी पर निर्भर करता है। अस्तित्ववादी दृष्टि आशावादिता और प्रगतिशीलता पर निर्भर करती है। मनुष्य के भावावेग भी स्वतंत्र हैं, उसके कार्य बिना किसी उद्देश्य के किए जाते हैं।

अस्तित्ववादियों के अनुसार मृत्यु, संघर्ष, दुःख आदि मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमाएं हैं। इनमें से मृत्यु संयोगात्मक है, जिसे मनुष्य भूलता रहता है तथा इससे बचने की चेष्टा करता है, यद्यपि वह जीवन का अनिवार्य अंग है पर मृत्यु के वैयक्तिक अस्तित्व की संभावनाएं समाप्त नहीं होतीं, केवल बुझ जाती हैं, क्योंकि किसी जीवन की मृत्यु उसके शरीर को प्रियजनों से भले ही छीन ले, चेतनागत भावनाओं को नहीं मिटा सकती। अतः मृत्यु भी जन्म की तरह एक तथ्यमात्र है। इसलिए वह मानव शरीर को अस्तित्व का अनिवार्य हेतु स्वीकार करते हैं और मानव चेतना के लिए शरीर को आवश्यक मानते हैं। मानव में एक चेतना ही ऐसा तत्व है जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्नता प्रदान करता है।

सार्त्र ने ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार नहीं की है। इसका कारण बताते हुए लिखते हैं-

"All existing beings are born without reason, continue through weakness and die by accident."

महत्व

अंत में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद में व्यक्ति का चित्रण साधारण की अपेक्षा विशेष है और यह आत्मगत विवेक पर विशेष बल देता है। लेकिन साथ ही इसमें जो उत्तरदायित्वहीनता पाई जाती है, उसके कारण यह उच्छृंखलता को ही जन्म देता है। फिर भी यह निर्विवाद है कि इस दार्शनिक सिद्धांत ने साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और अपने शुद्ध रूप में यह एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, क्योंकि यह व्यक्ति को अपने निर्माण और आदर्श-निर्धारण के लिए स्वतंत्र छोड़ देता है।

इकाई-पाँच

संरचनावाद का परिचय

हिन्दी में काव्यशास्त्र तो प्राचीन काल से है, उसे आलोचना नहीं कहा जा सकता। रीतिकाल में जो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ रचे गये, उन्हें आलोचना कहना चाहिए। वे सब रीति-ग्रन्थ हैं। रीतिकाल के लगभग सभी आचार्यों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से लक्षणों का पद्य में अनुवाद किया

और उदाहरण के रूप में अपनी कविता प्रस्तुत कर दी। अधिकांश आचार्यों के लक्षणों के अनुवाद स्पष्ट हैं। संस्कृत में आलोचना के नाम पर कुछ सूक्ति प्रचलित थीं, उसी ढंग से हिन्दी में भी कुछ आलोचनात्मक सूक्तियों ने आकार लिया।

कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

हास्य के स्थापित रचनाकार गोपाल प्रसाद व्यास ने इसे पैरोडी के रूप में इस प्रकार परिवर्तित किया-

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
पन्त निराला बल्ब हैं, लालटेन है व्यास॥
लालटेन है व्यास कि जिसमें तेल नहीं है।
बत्ती है बेडौल जलाना खेल नहीं है॥

x x x

तुलसी गंगदुबौ भये सुकविन के सरदार।
जिनके ग्रन्थन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

x x x

शेष कवि गड़िया, नन्ददास जड़िया।

x x x

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

x x x

कविवर राम नरेश त्रिपाठी,
लूटा सुयश मारकृति लाठी।

जिसे सच्चे अर्थों में आलोचना या समीक्षा कहना चाहिये, उसका आयात हिन्दी में अंग्रेजी से हुआ है। अंग्रेजी से हिन्दी में बहुत कुछ आया है, यह कटु सत्य है। हिन्दी के आलोचकों का आरम्भिक वर्ग मिश्र बन्धुओं, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, पण्डित पद्मसिंह शर्मा आदि का है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा के अतिरिक्त सभी प्रारंभिक आलोचकों ने अंग्रेजी आलोचना से प्रेरणा ली। वैसे ये आचार्य भारतीय काव्यशास्त्र से भली-भाँति परिचित थे।

आगे चलकर आलोचना और कविता (साहित्य में भी) में अनेक वादों ने प्रवेश किया। स्वच्छन्दतावाद, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद इसी प्रकार के वाद हैं जो अंग्रेजी से हिन्दी में आये हैं। नाम का परिवर्तन हो गया हो, यह अलग बात है, पर भावना हिन्दी में अंग्रेजी से ही आयी है। पिछले अनेक दशकों से साहित्य और संस्कृति दोनों क्षेत्रों में संरचनावाद ने पर्याप्त प्रभाव डाला है। संरचनावाद भाषा के क्षेत्र में अपनापन, तादात्म्य और अर्थ को तोड़ता हुआ आया है।

संरचनावाद केवल एक पद्धति ही नहीं है, इसमें दार्शनिकता का भी पर्याप्त अंश है। संरचनावाद का विकास बीसवीं शताब्दी के सातवें-आठवें दशक में फ्रांस में हुआ। संरचनावाद आज विश्व के बौद्धिक वातावरण में निर्णायक की स्थिति तक पहुँच गया है। आज इस सारे भूमण्डल में संरचनावाद का विकास हो रहा है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि संरचनावाद अतीत की बात हो चुकी है। इस समय उत्तरसंरचनावाद का युग चल रहा है। तात्पर्य यह है कि संरचनावाद इस समय

गतिशीलता की स्थिति में है। यूरोप के वर्तमान चिन्तकों को संरचनावाद ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। आज भूमण्डल का विकास हुआ है, उसमें संरचनावाद की अवधारणा को सत्य माना जा रहा है। संरचनावाद को औद्योगिक युग की रणनीति भी कह सकते हैं। इसका कारण संरचनावाद का आधुनिक राज्य सत्ता और समाज का पूर्ण रूप से रूपवाद होना है। यही कारण है कि संरचनावाद अपनी सिद्धि के लिए विखण्डनवाद का सहारा लेता है। यही कारण है कि संरचनावादी विचारधारा को रणनीति के रूप में भी स्वीकार किया गया है। इस विषय में सुधीश पचौरी की मान्यता निम्नलिखित है-

"संरचनावादी विचार पद्धति सातवें दशक के मध्य में आरम्भ हुई। विकराल राजसत्ताओं के सामने मानव अधिकारों की माँग, आधुनिक जकड़बंदी से छटपटाकर पीछे लौटकर धार्मिक एवं तत्त्ववादी चिन्तन में शरण ढूँढ़ना मूलत: आधुनिक स्थितियों को स्वीकार करना था। यहीं आकर महान् संरचनावाद की रणनीति स्वयं निरंकुश प्रतीत होने लगेगी और संरचनावाद के जरिये उसके सीमान्तों पर प्रहार किया गया। नैतिकता के आधारों के प्रश्न, राजनीति की नैतिकता के प्रश्न, आधुनिकतावादी निरंकुश जनतंत्रों में मानव अधिकारों का उद्घोष, नये-नये ढंग से उठने लगे। नीत्से और हाप डेगर की बड़े पैमाने पर वापसी हुई। लेवीस्ट्रॉस द्वारा विकसित संरचनावाद में निरंकुशता के तत्त्व सबसे पहले (1950) लाकां ने खोजे। लाकां ने बताया कि स्ट्रॉस की पद्धति मनुष्य समाज को अन्तत: एक मशीन की तरह सुपरिभाषित और कथनीय बनाती है, यह खतरनाक है। यह मनुष्य को केन्द्र में नहीं रखती। सन् 1981 के आस-पास मिशेल फूको ने 'मैडनैस एण्ड सिविलाइजेशन' में अच्छी तरह सिद्ध किया कि किस तरह हमारे आधुनिक विज्ञान एवं समाज विज्ञान दमनकारी हैं। 'द सैवेज माइण्ड' के प्रकाशन के बाद मिशेल फूको ने संरचनावादी स्ट्रास के नृविज्ञान और सात्री के इतिहास बोध की धज्जियाँ उड़ाई।

फूको ने यह स्वीकार किया है कि नीत्से का साहित्य पढ़ने के बाद ही मुझे इतिहासवाद और हीगेलवाद को छोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ। इतिहासवाद और हीगेल का द्वन्द्वात्मक होना विपरीत यात्रा के समान तीनों लेखकों लाकां, फूको और अल्युसर के क्षेत्र से अलग-अलग रहे। इन तीनों की यात्रा बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक से आरम्भ हुई। लाकां का क्षेत्र मनोविज्ञान था, फूको का संस्कृति था और अल्युसर का सिद्धान्त था।

यह सभी पर स्पष्ट हो चुका है कि सासूर ने जो संरचनावाद आरम्भ किया, उसमें भाषा के अर्थ को भेदने वाला संजाल है। व्यंजक और व्यंग्य के मध्य एक-एक का अर्थात् समान संबंध नहीं है। शब्दों को एक-दूसरे से अलग करने का कार्य ध्वनि और बोध की भिन्नता है। भाषा की निर्भरता भेदों की संरचना पर है। भाषा में भक्ति की असीमता होना संरचना पर ही निर्भर है। संरचना के अभाव में भाषा की असीमता समाप्त हो जायेगी। आधुनिक भाषा विज्ञान का आधार भाषा की यह संरचना ही बनी है। संरचना के रूप में भाषा विज्ञान एक निश्चित आधार प्राप्त कर सकता था। एक-दूसरे पर निर्भर होने का आधार व्याकरण था। व्याकरण पर ये दोनों तत्त्व निर्भर रहे हैं। यह मान्यता सिन्क्रोनी की है। संरचनावाद के तन्त्र ने स्वाभाविक रूप से उन्नीसबीं शताब्दी के इतिहासवादी भाषा विज्ञान को हाशिये पर पहुँचा दिया। इसे अंग्रेजी में डाइक्रोनिक फाइलोलॉजी कहा जाता है। भाषा की आम व्यवस्था और स्वतंत्र वाक् में भेद स्पष्ट करने का कार्य सासूर ने किया। इसका प्रभाव सांस्कृतिक चिन्तन पर पड़ना अनिवार्य था। इस समय अर्थात् संरचनावाद के समय में संस्कृति से संबंधित सभी रूपों का अध्ययन व्याकरण के रूप में होने लगा। इस प्रकार भाषा विज्ञान ने यह दावा किया कि वह मानव विज्ञान के सभी पहलुओं को समझता है। भाषा के बीच में वाचक की भूमिका अन्तिम रूप से केन्द्रीय थी। जो परोल अर्थात् स्वतंत्र वाक् का प्रयोग करता है, उसे प्रमुखता प्राप्त होती है। जिसे वाचक कहा कहा गया, वही प्राचीन काल से लेखक कहा जाता रहा है। देरिदा ने इसे संरचनावाद का भीतरी रोग घोषित किया है। देरिदा ने प्रश्न उपस्थित किया है कि हम उस

वाक् या भाषा को कितना स्वतंत्र कर सकते हैं और उसे कितनी विशिष्टता प्रदान कर सकते हैं जो स्वयं व्याकरण के रूप में भाषा की उपस्थिति की घोषणा करती है। सासूर के चिन्तन में यह अन्तर्विरोध छिपा हुआ है। इस अवधारणा में भाषा की उपस्थिति व्याकरण के रूप में नहीं है। अर्थ की आवश्यकता और अनिवार्यता स्वतंत्र भाषा को रहती है। सासूर ने अपने साहित्य में इस तथ्य को उजागर न करके दबाये रखा है। सासूर का यह चिन्तन आपत्तिजनक है कि वाक् की अपेक्षा लेखन लघु है और कम महत्त्वपूर्ण है।

देरिदा ने अपनी पुस्तक 'ग्रामोटोलॉजी' में यह स्पष्ट किया है-

"सासूर के यहाँ लेखन बाकायदा दूसरे दर्जे का बनाया गया है। यह तरीका दबाये गये अर्थ के दृश्यमान अन्तर्विरोध की ओर इंगित करता है। इन अन्तर्विरोधों को देखकर हमें भाषा विज्ञान से आगे लेखन विज्ञान (ग्रामोटोलॉजी) और पाठ विज्ञान खोजना है। बोला गया शब्द (वाक्) बोलने वाले की दरकार रखता है, ताकि वह प्रमाणिकता पा सके। सासूर 'लिखित' को जीवनरहित भाषा मानता है। बोला गया शब्द सीधा अर्थ देता है, लेकिन लिखित शब्द अर्थ की सत्ता (शुद्ध उपस्थिति) को खो देता है।"

देरिदा की यह मान्यता है कि यह दुष्परिणाम पश्चिम के तत्त्वदर्शन का है। इसे देरिदा ने सासूर की संरचनावादी अवधारणा की भयानक सीमा घोषित किया है। देरिदा ने यह विश्वास किया है कि भाषा की पहली शर्त है-लेखन। लेखन की उपस्थिति वाक् से पूर्ववर्ती है, इस कारण लेखन को दूसरे दर्जे का नहीं माना जा सकता। देरिदा लेखन को एक स्वतंत्र खेल अथवा लीला मानते हैं। लीला और अनिश्चय का यह तत्त्व संचार के प्रत्येक रूप में उपस्थित रहता है। इस आधार पर लेखन अर्थ का अनन्त स्थानान्तरण है तथा यह भाषा का अनुशासनकर्त्ता है। वह भाषा को कहीं भी अकेली नहीं छोड़ता है। लेखन भाषा को प्रामाणिकता प्रदान करता है। इस प्रकार वाक् अथवा वाणी को भी सामान्य लेखन कहा जा सकता है। लिखित भाषा को सदैव प्रकारण तथा भेदक संकेतों का संजाल कहा जा सकता है। वाक् करने वाला अर्थात् भाषा को बोलने वाला अकेला समझने में असमर्थ रहता है। तात्पर्य यह है कि जो भाषा को लिखता नहीं, केवल बोलता है, वह समझ नहीं सकता, जो लोग भाषा को स्वयंभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न होने वाली कहते हैं, वे वास्तव में भाषा के लेखन से भयभीत हैं। वे भाषा को लिखना नहीं चाहते, वे भाषा को लिख नहीं सकते। यह लेखन से डरने की प्रवृत्ति है और यह प्रवृत्ति पश्चिम में विशेष रूप से पायी जाती है। संरचनावाद के मूल में शब्द और अर्थ की समस्या है। शब्द की उत्पत्ति पहले हुई और अर्थ उससे बाद में जुड़ा अथवा अर्थ की उत्पत्ति पहले हुई और शब्द उसके बाद में संयुक्त हुआ। देरिदा ने पश्चिमी दर्शन की खोज करके यह घोषणा की है कि लेखन को द्वितीय श्रेणी का सिद्ध करना पश्चिम के दर्शन में देखा जा सकता है। यह चिन्ता केवल पश्चिमी दर्शन की है कि अर्थ यदि अपने आप ही प्रकट हो गया होता है अर्थात् अर्थ स्वयंभू होता तो भाषा हमारी सेविका अथवा दासी बन जाती। उस स्थिति में भाषा हमारे लिये समस्या न बनकर हमारे विचारों का वहन करने वाली बन गयी होती। इस प्रकार देरिदा ने भाषा और अनर्थ के संबंध में परिवर्तन ही नहीं कर दिया है, अपितु उसे पूरी तरह उलट दिया है।

सासूर ने संरचना को उस बिन्दु तक पहुँचा दिया कि वह स्वयं अपने में ही वन्दिनी बन गयी। सासूर भाषा की बात करने चले थे, पर उन्होंने भाषा को दबा दिया। उन्होंने भाषा की अपेक्षा वाक् को प्रमुख ही नहीं, प्राथमिक भी बना दिया। वास्तविकता यह है कि लेखन वाक् से पूर्ववर्ती नहीं है, पर यह अवश्य है कि लेखन वाक् की अपेक्षा अधिक मौलिक है। आवश्यकता लेखन और वाक् की समीक्षा ढंग से करने की है। इसके अभाव में जनसमूह में अलग अथवा गलत आस्था का निर्माण हो सकता है।

देरिदा ने संरचनावाद को एकदम व्यर्थ न मानते हुए यह बताया है-

"अन्त में संरचनावाद भाषा की कैद में बन्द हो जाता है। संरचनावाद ने इस प्रश्न को ऊँचाई से उठाया कि क्या भाषा चीजों को तय करती है? क्या ऐसा करते हुए भाषा देश में स्थिर नहीं होती? भाषा जब चीजों को स्थिर करते हुए स्वयं स्थिर होने को अभिशप्त है तो वह अपनी कैद बना लेती है।"

संरचनावाद में एक अवधारणा रही है जो बहुत शीघ्र एक निश्चित पद्धति का रूप धारण कर लेती थी। इस अवधारणा के कारण पाठ एक पूर्व योजना में परिवर्तित हो जाता था। इस अवधारणा के कारण पाठ के अनिश्चित तत्त्व छूट जाते थे।

एपीरिया का अर्थ है-संशय। संशय अथवा एपीरिया की स्थिति लेखन में उस समय उत्पन्न होती है, जब छिपने और बताने की दुविधा में फँस जाता है। वह छिपाना भी चाहता है और बताना भी चाहता है। वह निश्चय नहीं कर पाता कि मैं क्या करूँ?

इस प्रकार प्रेमचन्द के 'गोदान' को जमींदारी का पाठ कहा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' मनु के स्थान पर श्रद्धा का पाठ और आनन्दवाद के स्थान पर 'वेदना' का पाठ हो सकती है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' रामराज्य के स्थान पर कलियुग का पाठ हो सकता है।

नीत्से को नाजीवाद का पिता भी कहा जा सकता है, उसने हिटलर को उत्पन्न किया, हिटलर का निर्माण किया। नीत्से के विचारों में महामानव की खोज थी। उसके विचारों में शाश्वत पुनरावतार का तत्त्व विद्यमान था, जिसे अंग्रेजी में इण्टर्नल रिचर्स कह सकते हैं। नीत्से की विचारधारा का यह आदि तत्त्व था। इसी के कारण नीत्से की स्थिति अरक्षणीय बन गयी थी। नीत्से ने पश्चिमी दर्शन की समीक्षा करके भाषा की सीमाएँ स्पष्ट की थीं।

संरचनावाद ने पाठक का नया अवतार आरम्भ कर दिया था। यहीं से लेखन लेखक के केन्द्र से छूट जाता है और पाठक के बीच स्थान बना लेता है। इस प्रकार पाठक की स्थिति लेखक के विरोधी की बन जाती है। संरचनावाद ने पाठक का यही नवीन अवतार आरम्भ किया। इसका कारण यह था कि संरचनावाद पाठ के भीतर पाठ को उत्पन्न करना चाहता था। यह भी सत्य है कि लेखन के लिए पाठक की अनिवार्यता सदा रही है। लेखन कभी भी पाठक से मुक्त नहीं हो सकता।

स्त्रीवादी पाठ- स्त्रीवादी पाठ का आरम्भ यहीं से हुआ। यह वाद उत्तर-संरचनावाद का अंग बन गया। अब जब लोग एक पाठक के रूप में पाठ के साथ चलने लगे तो पाठ में अब तक जो अर्थ छिपे हुए थे, वे स्पष्ट होने लगे। इससे लेखक तक सीमित कुछ भी नहीं रह गया। लेखक ने अपने जो इरादे स्पष्ट किये थे, उन पर भी भरोसा नहीं रहा। इसके कारण सार्वभौम मानववाद समाप्त हो गया। एलेन शुवाल्टर ने अपनी पुस्तक 'टुवार्ड्स' एफेमिस्ट पोयटिक्स 'अर्थात्' स्त्रीवादी काव्यशास्त्र की ओट में व्यक्त किया-

"एक स्त्री के रूप में पढ़ने से पाठ में सक्रिय सैक्सीय संहिता की सार्थकता सरलता से आ जाती है।" स्त्री के पाठ की उत्पत्ति ने अनुभव की सम्पूर्णता को लेखन से हटा दिया और पाठक तक केन्द्रित बना दिया। पाठ में जो अर्थ होता है, उसका अर्जन करना पड़ता है। जो पुरुषवादी आलोचना है, वह इस अर्जन की उपेक्षा करती है। अब तक जो आलोचना हुई, वह पुरुष लेखक के इस इरादे को सभी के लिए समान हितकारी मानकर चली है। इस अवधारणा को उत्तरसंरचनावादी अर्थात् संरचनावाद के पश्चात् सत्ता में आने वाले पाठ ने समाप्त कर दिया। जो स्त्रीवादी पाठ है, वह सभी स्त्रियों से सरलता से कभी प्राप्त होने वाला नहीं है। इसका कारण यह है कि स्त्रियों का लिंग भेद अर्थात् पुरुषों से भिन्नता की भावना सदैव सचेत नहीं करती रहती है। यह सचेत न होना पुरुषवादी आलोचना से अलग होना नहीं है। स्त्री जब पुरुषों की भाषा में अपने आपको व्यक्त करती

है तो उसे पुरुषत्व की भावना से तादात्म्य अर्थात् एकरूपता स्थापित करनी पड़ती है। यह तादात्म्य अर्थात् एकरूपता लिंग भेद का दमन कर देती है।, स्त्रीवादी समीक्षा और स्त्रीवाद पाठ के बाद साहित्य के पाठ की अवधारणा में परिवर्तन आ जाता है। कारण यह है कि अब तक जो समीक्षा तत्त्व रहा था, वह मौलिक रूप से पितावादी अथवा पुरुषवादी रहा था, इसके कारण लेखक की भूमिका पितामह के समान रही। तात्पर्य यह है कि पुरुष की स्थिति में अथवा स्वयं को पुरुष मानकर जो समीक्षा प्रस्तुत की गयी, उसमें लेखक पिता ही नहीं रहा अपितु पिता का भी पिता अर्थात् पितामह अथवा बाबा बन गया। लेखक की इस भूमिका ने ही अर्थ को वैध बनाया है। तात्पर्य यह है कि लेखक ने पुरुष के समान सशक्त और अधिकारी समझकर जो आलोचना लिखी, उसका जो भी अर्थ या तात्पर्य था, वह वैध अर्थात उचित या विधिसम्मत था, यह भावना निर्मित हुई।

जब स्त्रीवादी समीक्षा आरम्भ हुई अर्थात् जब लेखक या समीक्षक ने कोमल स्वर में समीक्षा या अलोचना प्रस्तुत की, तब जिस समीक्षा ने लेखक को मर्द के रूप में स्थापित किया, उस लेखक के सामने स्त्रीवादी समीक्षा ने एक बड़ी चुनौती प्रस्तुत कर दी। संरचनावाद के बाद जो स्थिति आयी, उसे उत्तर-संरचनावाद कहा जाता है। उस स्थिति अर्थात् उत्तर-संरचनावाद ने लिंग भेद को तेज कर दिया तथा स्त्रीवादी पाठ को विशेषता प्रदान की।

शैली-विज्ञान के स्वरूप

साहित्य में अनेक प्रकार की आलोचना-पद्धतियां विकासत हुईं, जिनमें सिद्धान्त और प्रभावों दोनों का सम्मिश्रण रहा है। इस कारण प्राय: यह देखने में आया है कि किसी कृति को पढ़कर कोई पाठक या आलोचक रसमग्न हो सकता है तो दूसरा उसमें रसमग्न होने के बजाय उसे निकृष्ट भी मान सकता है, क्योंकि वह कृति उस पर उतना प्रभाव नहीं डालती, जितना वह पहले पाठक पर डालती है। यह तथ्य यह स्पष्ट करता है कि आलोचना के जो आधार बनाये गये, उनको सर्वमान्य स्वीकृति नहीं मिल सकी। अत: प्रश्न यह उभरा कि क्या कोई ऐसी पद्धति जो सर्वमान्य और वैज्ञानिक हो तथा जो मात्र कृति का ही विश्लेषण करे, सम्भव हो सकती है। शैली-विज्ञान इसी प्रश्न का समाधान करता है।

आलोचना की वैज्ञानिकता- डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (शैली-विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका) ने लिखा है-"आलोचना स्वयं में अनुशासन है, वह एक 'टेक्नीक' है जो अपनी सिद्धि के लिए एक निश्चित कार्य-प्रणाली का विकास करती है। वस्तुत: आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का अर्थ इस कार्य-प्रणाली को वैज्ञानिक बनाना है। अत: जब आलोचना की टेक्नीक और उस टेक्नीक की वैज्ञानिकता की बात उठती है तो उसका मतलब मुख्यत: साहित्य से है, उस कृति-विशेष से है, जिसका अध्ययन आलोचक को वांछित रहता है और उस अध्ययन के लिए अपनाई गई उस कार्य-प्रणाली से है, जिसके सहारे वह साहित्यिक विशिष्टताओं पर प्रकाश डालता है।"

आलोचना की विभिन्न, पद्धतियों में से अधिकांश में साहित्य का काव्य को विभिन्न परिस्थितियों, प्रभावों, दर्शनों, चिन्तनों और कथ्य की विशिष्टताओं आदि के साथ परखते हुए उसके कलागत वैशिष्ट्य को परखा गया। यह परख अपने में विशिष्ट और महत्वपूर्ण हो सकती है, पर शैली-विज्ञान यह मानता है कि इससे उसका सही परीक्षण सम्भव नहीं हो सकता।

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने इस तथ्य को इस रूप में उभारा है-"साहित्य आज जब ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों को स्पर्श करता है, तब उन तन्तुओं का जो साहित्येतर क्षेत्र में उसका संबंध जोड़ते हैं, अध्ययन अपने ढंग से अपने में उपलब्ध हो सकता है। पर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि साहित्यिक आलोचना का दायित्व पहले स्वयं साहित्य के क्षेत्र की अपनी सीमा-रेखा के भीतर किसी कृति के सही विश्लेषण के प्रश्न के साथ जुड़ा रहता है, स्वयं रचना के संघटनात्मक तत्वों एवं उनकी आन्तरिक अन्विति पर प्रकाश डालने के लक्ष्य के साथ सम्बद्ध रहता है।"

अत: रचना का उसके भीतर से ही मूल्यांकन शैली-विज्ञान का कार्य है, भले ही उसके प्रकार कुछ भी हों।

वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन- शैली-विज्ञान के मूल में यही प्रेरणा रही है कि कृति का अपने भीतर से ही मूल्यांकन हो और वह मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ हो, भावात्मक नहीं। इस दृष्टि से जिस ओर सर्वप्रथम ध्यान गया, वह थी भाषा। डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) की मान्यता है कि, कुछ वर्ष पूर्व भाषिक और साहित्यिक अध्ययनों को परस्पर असम्बद्ध समझा जाता था। साहित्य के आलोचक तथा भाषा-तत्वविद एक-दूसरे को दो विपरीत दिशाओं के पथिक मानते रहे हैं। किन्तु अब यह स्थिति नहीं है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि किसी भी कृति के मूल्यांकन हेतु भाषा-वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है।"

शब्द और कविता का मूर्त अस्तित्व- डॉ. शर्मा ने यह स्वीकार किया है कि कविता शब्दों की कला में रूपायित होती है, क्योंकि शब्द विशिष्ट संरचना में स्थान ग्रहण कर उस संरचना के प्रतिमान का निर्धारण करता है, इसीलिए कविता में प्रयुक्त शब्द यथार्थ वस्तु है। एक अच्छी कविता का प्रत्येक शब्द, संरचना के संदर्भ में सोद्देश्य होता है। संपूर्ण संरचना से उसका संबंध होता है तथा इस संबंध व्यवस्था से प्रतिमान का निर्धारण होता है। इस प्रकार कविता भी एक वस्तु हो जाती है।

प्राय: शब्द अपनी शक्ति, अर्थवत्ता और भाव-व्यंजना-शक्ति लेकर ही कविता में स्थान पाता है। उसकी शक्ति को बढ़ाने में जहाँ विरामादि चिह्नों का योग रहता है, वहीं तुक, गति, प्रतीक, मुहावरे आदि-जो शब्द-रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, के प्रभाव से रचना भी अधिक प्रभावपूर्ण हो उठती है। जार्डन ने 'Essays in Criticims' में यही स्वीकार किया है-शब्दों के अन्त: संबंध से निष्पादित वस्तु एक मूर्त अस्तित्व है। अत: इस मूर्त अस्तित्व का ही विश्लेषण करना अपेक्षित है।

कविता के इस मूर्त अस्तित्व को और उसकी स्वतंत्र सत्ता को अन्य आलोचकों ने भी स्वीकार किया है-

(i) **डेसमंड ग्राहम-** ने 'Introduction to Poetry' में कहा है-"कविता अपने में ही पूर्ण है, उसमें और किसी तत्व की तलाश व्यर्थ है।"

(ii) अर्ल वास्सेरमन की मान्यता की व्याख्या करते हुए डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) कहते हैं-"इस मान्यता का प्रस्तुत प्रसंग में महत्व यह है कि इसके अनुसार कविता भाषा के कलात्मक परिचालन के वैशिष्ट्य से निष्पन्न है। कला और साहित्य के संबंध में आधुनिकतम मान्यता यही है कि वह सम्पूर्ण तथ्य है, अस्तित्व है।"

> **डॉ. शर्मा का मत है कि,** *"कविता स्वयं एक वस्तु-रूप में निष्पन्न होती है। इस वस्तु-रूप, स्वतंत्र कृति का विश्लेषण वस्तुनिष्ठ प्रविधि से किया जाना चाहिए। वस्तुनिष्ठ विश्लेषण का आधार शब्द-वस्तु और कविता की संरचना में प्रयुक्त अन्य शब्दों से उसका संबंध अर्थात् संरचना-साँचे से हो सकते हैं। शब्द और संरचना साँचों के विश्लेषण से कथ्य वस्तु तक पहुँचने की प्रविधि वस्तुनिष्ठ होने के कारण सार्वभौम होगी।"*

आज इसी सार्वभौम विश्लेषण पद्धति की आवश्यकता है। इसके विपरीत संदर्भों-देशकाल, वातावरण, विभिन्न प्रभाव, दर्शन-वाद-चिन्तन आदि के आधार पर किया गया विश्लेषण-विवेचन सार्वभौम कैसे हो सकता है। फिर यही प्रश्न बार-बार उठता रहेगा कि सूर सूर है, तुलसी शशि और आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक छायावाद की उपलब्धियों को नकारते रहेंगे। इसी कारण इस वस्तुनिष्ठ पद्धति की ओर झुकाव हुआ।

शैली-विज्ञान की अवधारणा

(1) चार्ल्स बेली की मान्यता है कि भावात्मक भाषा और सामान्य भाषा में स्तर-भेद होता है। इस स्तर-भेद के आधार पर कृति का अध्ययन करना ही शैली-विज्ञान का कार्य है।

(2) **डॉ. कृष्णकुमार शर्मा** (शैली-विज्ञान की रूपरेखा)- शैली-विज्ञान वस्तुपरक चिन्तन पर आधारित समालोचना सिद्धान्त है। शैली-विज्ञान काव्य-भाषा के प्रत्येक एकक की अनेक तलों पर व्याख्या कर उनसे उत्पन्न चमत्कार को प्रत्यक्ष करता है। शैली-विज्ञान यादृच्छिक व्याख्या के स्थान पर वस्तुनिष्ठ तथा सत्यापित करने योग्य व्याख्या पर बल देता है।

(3) **लीच**- साहित्य में भाषागत प्रयोगों का अध्ययन शैली-विज्ञान है।

(4) **डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव**- (शैली-विज्ञान और आलोचना की भूमिका)-बाह्य जगत् और साहित्यिक जगत् के अन्तर को हम 'सत्य' अथवा तथ्य के सन्दर्भ में यह कहकर नहीं समझ सकते कि इनके सत्य की प्रकृति में कोई गुणात्मक भेद है अथवा निष्कर्ष के रूप में दो भिन्न कोटि की मान्यताओं का प्रतिपादन करते हैं। ज्ञान का हर क्षेत्र सत्य को चाहता है, अत: लक्ष्य एवं प्रक्रिया के धरातल पर ये सभी समान हैं। इनके बीच का अन्तर वस्तुत: अभिव्यक्ति पद्धति और कार्य-प्रणाली का अन्तर होता है। विज्ञान जिस निर्वचनात्मक पद्धति का सहारा लेता है, कला उससे भिन्न प्रस्तुतीकरण की अभिव्यक्ति पद्धति का अवलम्बन करती है। अभिव्यक्ति पद्धति के इस आधार पर साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति ही शैली-विज्ञान का मूलाधार है।

(5) **डॉ. कृष्णकुमार शर्मा** (शैली-विज्ञान की रूपरेखा)- शैली-विज्ञान अभिधान का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है-वह विज्ञान जो शैली का अध्ययन करे।

(6) **जॉन मिडिलटन मुद्दी** (शैली-विज्ञान की रूपरेखा-डॉ. वर्मा पृ. 17)- वैज्ञानिक शोध के अंश मात्र उत्साह से भी शैली-पद का आख्यान किया जाय तो यह अनिवार्यत: संपूर्ण साहित्य के सौंदर्यशास्त्र और आलोचना के सिद्धान्तों को परिव्याप्त कर लेगा।

डॉ. शर्मा ने मुद्दी की परिभाषा करते हुए कहा है-शैली-विज्ञान एक आलोचना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार आलोचना की दृष्टि भाषावादी होती है और चिन्तन की दिशा वस्तुपरक। अत: इसमें सन्देह नहीं कि इस व्यापक दृष्टि से देखने पर साहित्य का सौंदर्यशास्त्र और आलोचना सिद्धान्त शैली-विज्ञान में समाहित हो जायेंगे।

(7) **डॉ. विद्यानिवास मिश्र** (रीति-विज्ञान, पृ. 14)- जहाँ तक सिद्ध वस्तु के रूप में भाषा के विश्लेषण की बात है, वह सामान्य व्याकरण या सामान्य भाषाशास्त्र के अन्तर्गत लायी जा सकती है, किन्तु जहाँ नियमों की परिधि के विस्तार की बातें आती हैं या पूर्व-निश्चित संकेतों के द्वारा द्योतित अर्थों या दूसरे शब्दों में-अभिधेय संदेशों की परिधि के बाहर जाकर अभिधेयेतर या बाच्येतर नवसृजित सन्दर्भ के उन्मीलन का प्रश्न उठता है, वहाँ भाषा का एक अतिरिक्त प्रयोजन जुड़ जाता है। वह प्रयोजन सामान्य संदेश के सम्प्रेषण से अलग न जाते हुए, उसको अपने में समेटते हुए भी उससे सम्बद्ध, पर उससे भिन्न ऐसे अर्थ के प्रकाशन तक उसे ले जाता है, जो तद्-विषदिक संकेत में ही एकान्त रूप में निहित है और इसीलिए उसे एक ही भाषा में सामान्य सोद्देश्यकता के अतिरिक्त सर्जनात्मक सोद्देश्यकता की खोज करने के लिए सामान्य भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए उसके विशेष प्रकार के गुणों की तथा ऐसे सन्दर्भों की व्याख्या के लिए एक अलग प्रायोगिक शास्त्र का प्रतिपादन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी को भाषागत 'शैली-विज्ञान' कहा जा सकता है।

शैली की अवधारणा

शैली-विज्ञान का कार्य शैली का अध्ययन करना है। अत: शैली के संबंध में भी कुछ जानकारी करना अपेक्षित है।

डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) की मान्यता है कि शैली की परिभाषा अनेक दृष्टियों से की गई है। प्रथमत: वे परिभाषायें हैं जो रचयिता की दृष्टि से शैली की प्रस्तुति करती हैं-

(1) **गोथे**- शैली की रचना का उच्च और सक्रिय सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। इसके द्वारा रचयिता अपने विषय के आन्तरिक रूप को प्रकट करता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति को समर्थ विधि से व्यक्त करने के लिए जिन उपादानों को ग्रहण करता है, वे सब शैली के अन्तर्गत आ सकेंगे।

द्वितीय प्रकार की परिभाषाएँ शैली को कृतिगत विशेषताएँ मानती हैं। इन मान्यताओं के अनुसार शैली-विषयक अध्ययन कृति तक ही सीमित है। प्रमाता के समक्ष कृति ही होती है, अत: उसे कृति पर ही विचार करना चाहिए। जो कुछ प्राप्त करना है, कृति से ही करना है। कृति बाह्य किसी विचार की अपेक्षा नहीं है। आधुनिक शैली-विज्ञान शैली को इसी दृष्टि से देखता है।

एकविष्ट द्वारा व्यक्त शैली-विषयक धारणाओं को डॉ. शर्मा ने ऐसे प्रस्तुत किया है-

(1) *पूर्वत: अस्तित्ववान् विचार अथवा अभिव्यक्ति केन्द्र का आवरण शैली है।*

(2) *शैली अनेक विध अभिव्यक्तियों में से श्रेष्ठ चयन है।*

(3) *शैली वैयक्तिक वैशिष्ट्यों का समुच्चय है।*

(4) *सामूहिक विशेषताओं का समुच्चय शैली है।*

(5) *शैली इन भाषा-तात्विक इकाइयों का अंत: संबंध है, जिनका काव्य की अपेक्षा काव्य-खण्ड के व्यापक सन्दर्भ में कथन किया जा सकता है।*

डॉ. शर्मा ने इसके अतिरिक्त भी कुछ परिभाषाएँ देकर उनका विश्लेषण किया है। यहाँ हम संक्षेप में उनकी अवधारणा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) को इस प्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं-

(1) *काव्य-संरचना में भाषिक इकाइयों के पुनरावर्तन का समुच्चय शैली है अथवा संरचना-साँचों का अभिसरण शैली है।*

(2) *व्याकरण की सभी संभावनाओं का उपयोग शैली है।*

(3) *शैली अभिव्यक्ति केन्द्र अथवा विचार का आवरण है।*

(4) *'डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स' के अनुसार-*

"Style consists in adding to a given thought all circumstance calculated to produce the whole effect that the thought ought to produce."

इस विचारधारा के अनुसार-विश्लेषण करते हुए डॉ. वर्मा का मत है-

(i) *मूल विचार केन्द्र में है।*

(ii) *वांछित प्रभाव उत्पादन करने के लिए उस विचार के साथ संयुक्त किये गये सम्पूर्ण सुविचारित परिवेश में शैली निहित होती है।*

(ख) डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा)- भाषा विचारों की समक्षणिक-अभिव्यक्ति के साधनों का समुच्चय है। वक्ता यथासंभव अपने विचारों को भाषा के

माध्यम से वस्तुनिष्ठ और बौद्धिक रूप प्रदान करता है। भाषा के तत्व अंशत: उसके अहं और सामाजिक नियंत्रण के परिणाम होते हैं। शैली इन्हीं तत्वों का समुच्चय है और शैली-विज्ञान का दायित्व इन्हीं प्रभावी विशेषताओं का अध्ययन करता है।

शैली-विकास का विकास- इस विज्ञान को पाश्चात्य विचारकों की देन ही माना गया है, परन्तु डॉ. विद्यानिवास मिश्र इसके मूल-स्त्रोत भारतीय चिन्तन में ही खोजते हैं। यह बात हास्यास्पद हो सकती है, क्योंकि पश्चिम की किसी प्रस्थापित मान्यता के मूल को गुलामी की प्रवृत्ति से ग्रसित भारतीयों को भारतीय चिन्तन में खोजना रुचिकर नहीं रहा है।

डॉ. मिश्र की मान्यता है कि 'शैली' शब्द उधर अंग्रेजी 'स्टाइल' के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में 'रीति' का प्रयोग और प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र में 'वृत्ति' का प्रयोग मिलता है। उन्होंने 'शैली' शब्द के प्रयोग को भी भारतीय चिन्तन से जोड़ा है। हमारे यहाँ स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, चित्र-कला और नृत्य तथा गायन कला के साथ 'शैली' का प्रयोग हुआ है। यथा-नागर शैली, गांधार शैली आदि।

वामन ने 'विशिष्ट पद-रचना रीति' ही कहा है। अत: डॉ. मिश्र ने इसे 'रीति-विज्ञान' मानते हुए इसकी जड़ को वामन के चिन्तन में ही खोजा है।

डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) ने शैली-विषयक अवधारणाओं को स्पष्ट किया है-

(i) **जोल्लान-** भाषिक, तत्व, जैसे-ध्वनि, शब्द, प्रत्यय, वाक्य-संरचना आदि का शैलीपरक कार्यफलन उनकी व्यंजकता में है।

(ii) **डॉ. विद्यानिवास मिश्र-** भाषायी इकाइयाँ शैली के रूप में इसलिए व्यापारित होती हैं कि उनमें कुछ अभिव्यंजनात्मक, नवमानात्मक और रागात्मक निहितार्थ होते हैं जो उनके मुख्य वाच्यार्थ के ऊपर आरोपित किये जा सकते हैं। ये निहितार्थ किसी भी भाषायी इकाई के बीच अन्तर्भूत मुख्यार्थ के सहचर होते हैं। भाषा की शैली वह अंश है, जो उसका स्वभाव है अर्थात् जो उसके अभिव्यंजक, भावात्मक और रागात्मक लक्षणों की विशेषता है।

(iii) **एन. कृष्णस्वामी-** कविता में व्याच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक महत्वपूर्ण होता है। भाषिक विश्लेषण के द्वारा इस व्यंग्यार्थ का उद्घाटन कैसे किया जाय? यह शैली-विज्ञान की समस्या है।

हमारे यहाँ के प्राचीन काव्यशास्त्र में वामन के रीति सिद्धान्त, आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त, कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त और क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त के अन्तर्गत भी मुख्यत: शैली का ही अध्ययन है।

(1) **चार्ल्स बेली-** इन्होंने स्वीकार किया कि काव्य-भाषा के अध्ययन के आधार पर भी रचना का मूल्यांकन हो सकता है।

(2) रूसी और जर्मन समीक्षकों ने भी उसमें योगदान किया। जर्मन समीक्षकों ने दांते की 'डिवाइन कॉमेडी' का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया।

(3) लियो स्पिटजर (ऐसेज ऑन इंल्जिश एण्ड अमेरिकन लिटरेचर) ने इस तथ्य को उभारा कि कविता की रचना शब्द पर आधारित है। उन्होंने अन्य प्रकार की आलोचनाओं को अधिक उपयुक्त नहीं माना।

(4) रोरिक अरबैक ने अपनी आलोचना में भाषा को ही आधार बनाया।

(5) **डेमीजो एलोंजी-** इन्होंने स्पेनिश कविताओं का शैली-वैज्ञानिक विवेचन करके इस सिद्धान्त को और आगे बढ़ाया। साथ ही इस विज्ञान की अवधारणा भी प्रस्तुत की।

इसके बाद जॉ। हेलोवे, डेनोल्ड डेवी, स्टीफन उल्मन ने भी इस क्षेत्र में अपना योगदान किया। इस प्रकार यह विज्ञान पनपा है।

विखण्डनवाद की अवधारणा

हिन्दी में विखण्डनवाद पाश्चात्य समीक्षा से आया है। वहाँ पहले संरचनावाद आरम्भ हुआ, जिसने लेखन की अपेक्षा पाठ या पठन को श्रेष्ठ सिद्ध किया। इसके पश्चात् उत्तर संरचनावाद का उदय हुआ, जिसने संरचनावाद को अतिशयता प्रदान की। विखण्डनवाद का जन्म इसके बाद हुआ। इसने संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद का खण्डन किया। इसी आधार पर इसका नाम विखण्डनवाद पड़ा। उत्तरसंरचनावाद ने भाषा के क्षेत्र में अपनापन, तादात्म्य और अर्थ की प्राचीन मान्यता का खण्डन किया। इस उत्तरसंरचनावाद का विरोध अथवा खण्डन करने के लिए जॉक देरिदा ने विखण्डनवाद की पद्धति का विकास किया, उसका साहित्य और समीक्षा पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। अब तक साहित्य की प्रकृति और रूप के विषय में जो अवधारणाएँ चली आ रही थीं, विखण्डनवाद ने उन्हें परिवर्तित कर दिया, बदल दिया। जॉक देरिदा के विखण्डनवाद का प्रभाव साहित्य समीक्षा तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि भाषा और दर्शन की प्रश्नोत्तरी को परिवर्तित करने में भी यह सफल हुआ।

उत्तरसंरचनावाद का विरोध- जॉक देरिदा ने उत्तरसंरचनावाद का प्रखर विरोध किया, खण्डन किया। जॉक देरिदा की यह विचारधारा और समीक्षा की पद्धति ही विखण्डनवाद कहलाती है। सातवें दशक अर्थात् 1961 से 1970 के मध्य देरिदा ने 'स्पीच एण्ड फिनामिना' अर्थात् कथन और नारीवाद, 'राइटिंग एण्ड डिफरेंस' अर्थात् लेखन और अन्तर तथा 'आफ ग्रामोटोलॉजी' अर्थात् व्याकरणवादिता का विरोध नामक पुस्तकें प्रस्तुत करके विखण्डनवाद को जन्म दिया। इसके कारण संरचनावाद का अधिकार समाप्त हो गया। जॉक देरिदा के विखण्डनवाद के विषय में सुधीश पचौरी ने लिखा है-

> *"जॉक पेरिदा का लेखन विधाओं के वर्गीकरण को व्यर्थ करता है, क्योंकि यह उनमें से किसी एक में अँटता नहीं। विखण्डनवाद का कोई परम्परागत रूप विधान सम्भव ही नहीं है। यह दर्शन होते हुए भी दर्शन नहीं है। यह आलोचना होते हुए भी आलोचना नहीं है। विखण्डन क्या है? इस पर सोचते हुए देरिदा कहते हैं कि विखण्डन की क्रिया याद दिलाती है कि भाषा किस तरह दर्शन की योजना को जटिल बनाती है या बाहर फेंकती है। विखण्डन विचार को निरस्त करता चलता है। विचारधारा जो पश्चिमी दर्शन का सत्तावादी भ्रम है। विचारधारा यानी तर्क जो पश्चिमी समाज का संचालक रहा है। विखण्डन इस तर्क को व्यर्थ करता है। इस अर्थ में देरिदा दार्शनिक कम, समीक्षक अधिक हैं। देरिदा के यहाँ 'रचना' और 'समीक्षा' में भी भेद नहीं है। विखण्डनवादी दृष्टि से सब बराबर हैं। आलोचना, दर्शन, भाषाविज्ञान, नृविज्ञान आदि तमाम मानव विज्ञान देरिदा के लिए सभी विखण्डन की वस्तु हैं। सभी कुछ देरिदा का लक्ष्य है।"*

पॉल द मान के लेख 'ब्लाइण्डनैस एण्ड इनसाइड' में पहली बार साहित्य में देरिदाई शैली का पहला उदाहरण प्राप्त होता है। पाल द मान ने नई आलोचना का खण्डन किया तथा यह प्राप्त किया कि रचना में आधारभूत जो रूपक होते हैं, उनको खोजने के लिए नयी आलोचना को पढ़ना बास्तव में एक प्रकार का अंधापन है, जो नयी आलोचना की अन्तर्दृष्टि में छिपा हुआ है। नयी आलोचना कविता को शब्द-रूपी मूर्ति अर्थात् 'वर्बल आइकॉन' मानती है। वह कविता को देश और काल से अलग एक प्रकार की स्वयंभू संरचना मानती है, यही उसका अंधापन है, जो अपने आप

उत्पन्न हुआ है। रचना के अवयवों के रूप में तनाव और अस्पष्टता की बात ही अंधापन है। यह आलोचना एकाकिनी होने के कारण अस्पष्ट और तनावपूर्ण बन जाती है। विखण्डनवादी दृष्टि साहित्यिक पाठ और आलोचना में अन्तर नहीं मानती। विखण्डनवाद के अनुसार रचना और समीक्षा में कोई भी बड़ा नहीं है। लेखन होने के कारण दोनों समान हैं। बहुत समय तक आलोचना के विषय में यह असत्य धारणा फैलायी गयी कि रचना करने वाली भाषा आलोचना की भाषा से श्रेष्ठ है। रचना की भाषा प्रथम है और आलोचना की भाषा उसकी पश्चातवर्ती है। अब तक आलोचक यह मानकर चलते रहे कि साहित्यिक पाठ में एक प्रकार का प्रामाणिक अनुभव रहता है। आलोचक का काम उसकी ओर संकेत करना है।

देरिदा ने कहा है-

"यह पश्चिमी विमर्श का अपराध है कि वह भाषा के खेल को नष्ट करता है। उसे एक स्थिर अर्थ प्रदान करना चाहता है, जैसा कि वाक् (वाणी) में होता है। वाक् (कविता) में एक अर्थ उपस्थित रहता है-वक्ता का आशय। आशय और कथन की एकतानता होती है, इसीलिए साहित्यिक पाठ को अर्थ की उपस्थिति का पाठ कहा जाता है, व्याख्या करने वाले व्याख्याता का निर्माण बन जाता है।"

विखण्डनवाद की दृष्टि में साहित्यिक पाठ तथा आलोचना में अन्तर नहीं है। इसका कारण यह है कि साहित्यिक पाठ और आलोचना दोनों ही अर्थ की अनेकता-रूपी जटिलता और आख्यों की खोज करने वाले हैं। इस दृष्टि से रचना और आलोचना में कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। दोनों का प्रयत्न एक समान है। दोनों ही प्रयत्न हैं और दोनों में समान बल लगता है। रचना और आलोचना दोनों ही लेखन हैं। बहुत समय तक आलोचना के विषय में यह भ्रम उत्पन्न किया गया कि प्रथम होने के कारण रचना करने वाली भाषा अलोचना की भाषा की अपेक्षा महान् है। यह विश्वास किया गया कि साहित्यिक पाठ अर्थात् टैक्स्ट में एक प्रकार का प्रमाणिक अनुभव होता है। आलोचक का काम उसकी ओर संकेत करना भर है।

पश्चिमी विमर्श : एक अपराध- देरिदा का कथन है-"यह पश्चिमी विमर्श का अपराध है कि वह भाषा के खेल को नष्ट करता है। उसे एक स्थिर अर्थ प्रदान करना चाहता है, जैसा कि 'वाक्' (वाणी) में होता है। वाक् में (वाचित) एक अर्थ उपस्थित होता है-वक्ता का आशय। आशय और कथन की एकतानता होती है, इसीलिए साहित्यिक पाठ को अर्थ की उपस्थिति का पाठ कहा जाता है। यह पश्चिमी विमर्श (विचार-विमर्श) का रहस्यवाद है। इसे पाठ और विमर्श की छद्म सीमाओं को तोड़कर ही भेदा जा सकता है।"

विखण्डन में पाठ- पाठ और विमर्श के छद्म को भेदने के लिए विमर्श की प्रक्रिया को बदलना आवश्यक है। विखण्डन में पाठ की प्रक्रिया अलग रहती है, उसमें पढ़ने की रीति में परिवर्तन करना होता है। साहित्यिक पाठ को अलग ढंग से पढ़ा जाना उचित है। अन्तर्दृष्टि की खोज के लिए पाठ का पढ़ा जाना उचित नहीं है। जो अन्धापन अन्तर्दृष्टि की सीमा होता है, उसे खोजना चाहिए। इस प्रकार पाठ की स्वायत्तता को समाप्त किया जा सकता है। सासूर ने वाक् और लिखित को अलग-अलग बताया था। देरिदा को लगा कि इसमें अन्तर्विरोध है। उन्होंने इसे पश्चिम में द्वैतवादी चिन्तन का परिणाम निरूपित किया। सासूर के अनुसार भाषा में मध्य वाचक की भूमिका केन्द्रीय रहती है। परोल अर्थात् स्वतन्त्र वाक् (वाणी) को जो प्रमुखता प्राप्त होती थी, इसके अनुसार वाचक ही प्राचीन लेखक कहा जा सकता है। देरिदा की दृष्टि में यह ऐसा रोग है जो संरचनावाद में व्याप्त है। देरिदा ने पूछा है कि हम उस वाक् अथवा रचना को कितना स्वतंत्र और विशेष स्वीकार करें, जिससे वह अपने आप एक व्याकरण के रूप में भाषा की उपस्थिति को आवश्यक मानती है। लातूर ने जो चिन्तन किया है, यह उसका अन्तर्विरोध है। इस अवधारणा में भाषा की उपस्थिति

व्याकरण के रूप में नहीं है। भाषा की आवश्यकता तो स्वतंत्र अर्थ के लिए रहती है। सासूर ने चिन्तन में यह सत्य दब गया है अर्थात् स्पष्ट नहीं है। सासूर ने माना है कि लेखक वाक् अर्थात् वाणी की अपेक्षा छोटा है, यह तत्त्व आपत्तिजनक है अर्थात् स्वीकार करने योग्य नहीं है।

लिंग्विस्टिक्स एण्ड ग्रामोटोलॉजी अर्थात् भाषा विज्ञान और व्याकरणात्मकता नामक अपनी पुस्तक में देरिदा ने बताया है कि लातूर ने लेखन को नियमपूर्वक द्वितीय श्रेणी का कहा है। लातूर का यह ढंग संकेत करता है कि अर्थ दबाया हुआ है। यह बात सत्य नहीं है। इसमें अन्तर्विरोध है। हमें चाहिये कि हम इन अन्तर्विरोधों को देखें और भाषा विज्ञान से आगे चलकर लेखन विज्ञान अर्थात् ग्रामोटोलॉजी और पाठ विज्ञान को खोजें। बोलने वाला शब्द अर्थात् वाक् बोलने वाले की अपेक्षा रखता है। इसी से उसे प्रामाणिकता प्राप्त होती है। लातूर की मान्यता के अनुसार लिखित जीवनरहित भाषा और है। बोले गये शब्द से सीधा अर्थ प्राप्त होता है, जबकि लिखित शब्द अर्थ की सत्ता खो देता है। उसमें अर्थ की शुद्ध उपस्थिति नहीं रहती है। देरिदा के अनुसार यह पश्चिमी दर्शन का बुरा परिणाम है। देरिदा के अनुसार यह संरचनावादी अवधारणा की भयानक सीमा है। देरिदा के अनुसार लेखन भाषा की पूर्व शर्त है। उसकी उपस्थिति वाक् अर्थात् वाणी से पहले उपस्थित रहती है। इस दृष्टि से लेखन को द्वितीय श्रेणी का नहीं माना जा सकता। देरिदा लेखन को स्वतंत्र रोल अथवा लीला स्वीकार करते हैं। लेखन अर्थ का ऐसा स्थानान्तरण है, जिसका कहीं अन्त नहीं है। लेखन भाषा को अनुशासित भी करता है। लेखन भाषा को अकेला न छोड़कर उसे स्वत: प्रामाणिक बनाता है। इस प्रकार वाक् अर्थात् बोली गयी भाषा भी लेखन ही है। लिखी हुई भाषा प्रसारण और भेद के संकेतों का जाल है। इस बात को भाषा बोलने वाला नहीं समझा सकता। यही कारण है कि इन्द्रिय का स्वर सहित बन्धन पर्याप्त नहीं होता है। जो लोग भाषा को स्वयंभू कहते हैं, वे वास्तव में भाषा के लेखन से डरते हैं। पश्चिम का जो तत्ववाद है, वह लेखन से भयभीत रहता है।

अर्थ की समस्या- समस्या अर्थ को लेकर है। पहले शब्द उत्पन्न हुआ अथवा अर्थ। लेखन भाषा की अपेक्षा द्वितीय श्रेणी का है, देरिदा ने यह बात पश्चिमी दर्शन के इतिहास में खोजी है। पश्चिमी दर्शन लेखन को स्वयंभू नहीं मानता। उसका सोच यह है कि अगर लेखन स्वयंभू होता तो भाषा हमारी दासी बन गयी होती। इस स्थिति में वह समस्या नहीं बनती, अपितु हमारे विचारों को वहन करती। देरिदा ने भाषा और विचार के संबंध को उलट दिया है। इसी का नाम विखण्डन है। विखण्डन निर्णय करने वाला है। यही उसकी हिंसा है। देरिदा के अनुसार विखण्डन की पहली शर्त संरचनावाद है। तात्पर्य यह है कि संरचनावाद ने ही विखण्डनवाद को जन्म दिया है। इस प्रकार विखण्डन एक क्रियाशीलता है, संरचनावाद के विरुद्ध कार्यवाही है। संरचनावाद ने भाषा की बात करते-करते उसे दबा दिया और वाक् को प्रमुख घोषित कर दिया तथा प्राथमिक सिद्ध किया। विखण्डन की नीति दिये हुये पाठों का क्रम उलट देती है। वह पाठ पर टिके विरोधों को भी समाप्त कर देता है।

लेखन वाक् अर्थात् बोली जाने वाली भाषा का पूर्ववर्ती और श्रेष्ठ नहीं है, पर उसमें मौलिकता अधिक है। लेखन और वाक् के लेखन से एक अन्ध स्थिति आती है, एक अंधी आस्था बन जाती है। पश्चिमी दर्शन की यह स्थिति विखण्डन से पहले की है। विखण्डन इस प्रकार पढ़ने की कार्यवाही आरम्भ करता है। विखण्डनवाद की दृष्टि से पाठ पाठक के साथ बैठा हुआ है, पढ़ना परतन्त्र भी नहीं है, पढ़ना बन्द भी नहीं है।

देरिदा की विखण्डनवादी रणनीति- देरिदा ने अपनी विखण्डनवादी रणनीति की व्याख्या नहीं की है। देरिदा के अनुसार विखण्डनवाद कोई अवधारणा नहीं है। अवधारणा के लिए पक्की विचारयोजना की अपेक्षा होती है, जबकि विखण्डनवाद में कोई पक्की विचार योजना नहीं है। पक्की

विचार योजना में स्थित होकर लेखन अपना स्थान बना लेता है। देरिदा लेखन को सभी सांस्कृतिक कार्यों का स्त्रोत मानते हैं। लेखन संस्कृति के मध्य स्थित ज्ञान को दबाता भी है। जो अर्थ लेखन की कैद में दब रहा होता है, विखण्डन उसकी मुक्ति करता है। इसी आधार पर देरिदा को विश्वास है कि पाठ के बाहर कुछ नहीं है। देरिदा ने एडमण्ड हर्सेल की फिनामिनोलॉजी अर्थात स्त्रीवादी समीक्षा का भी विखण्डन किया है और स्पष्ट किया है कि हर पाठ के भीतर विखण्डन छिपा रहता है। पाठ जिसे दबाता है, उसी का मित्र भी बनता है। विखण्डन का काम उस तत्व को पाठ से बाहर लाना है जिसे पाठ ने दबा रखा है। विखण्डनवाद दबाये गये तत्त्व और दबाने वाले तत्त्व के मध्य संशय का अन्तर्विरोध प्रस्तुत करता है जो उसी के द्वारा बनाया जाता है। संशय को अंग्रेजी में एपेरिया कहा गया है। संशय की उत्पत्ति लेखन में उस समय होती है, जब लेखक छिपाने और बताने के मध्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि लेखक निश्चय नहीं कर पाता कि कितना स्पष्ट करूँ और कितना छिपाऊँ? देरिदा इस एपेरिया अर्थात् संदेह का महत्त्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि सन्देह पृथकता और परस्परता को प्रकाश में लाता है। संशय के कारण जो अवरोध होता है, विखण्डन उसी की खोज करता है। यह संशय विचार और भाव के मध्य बढ़ता है। इस प्रकार सत्य का खोजी वह दर्शन विखण्डित हो जाता है और जो सदा सर्वथा से चला आया है। यह दर्शन अन्त में केवल एक लेखन रह जाता है। यह लेखन अपने से बाहर के यथार्थ पर अधिकार नहीं करता।

विखण्डन और नीत्से- बहुत से विद्वान् यह खोज करते हैं कि विखण्डन के केन्द्र में प्रसिद्ध विद्वान् नीत्से का नाजीवाद है। नीत्से को नाजीवाद का जनक माना जाता है। उसी ने हिटलर को आकार दिया था और उसी के कारण हिटलर ऐसा बन सका था। नीत्से के विचारों में दो तत्त्व ऐसे हैं जो उसको आज भी आदर का पात्र बनाये हुए हैं। वे तत्त्व हैं-महामानव की खोज और शाश्वत पुनः अवतार। देरिदा ने नीत्से के इन विचारों का भी विखण्डन किया है। इस प्रकार के सूत्र भी प्राप्त होते हैं कि नीत्से पर विखण्डन का प्रभाव रहा है। यह प्रभाव सत्य के विषय में नीत्से का सन्देहवाद है। विखण्डन का जो संशयवाद है, कुछ लोग इसे उसी के साथ एकाकार करते हैं। नीत्से के अनुसार दार्शनिक ऐसे ठग हैं जो सत्य की भाषा में छिपे रहते हैं। नीत्से को अपने भीतर भी चैन नही मिलता। सत्य भाषा में बन्द रहता है और कभी नहीं निकलता। तर्क ने दर्शन की कल्पनाशक्ति समाप्त कर दी है। नीत्से के अनुसार सभी दर्शन असत्य हैं। देरिदा के निष्कर्ष भी इसी प्रकार के हैं। इस प्रकार देरिदा और नीत्से के विचार इस स्थल पर समान हैं।

देरिदा ने विज्ञान को तर्क का दमनकारी विमर्श बताकर इसका भी विखण्डन किया है। नीत्से विज्ञान की स्वतंत्रता अनुभव में मानते हैं और देरिदा चिह्नों के खेल में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार देरिदा ने नीत्से के भारी भरकम अतीत को ताड़ा है।

देरिदा की मौलिकता- देरिदा की मौलिकता यह है कि उसका विखण्डन उसी तर्क को प्रस्तुत करता है जो सत्यता का दावा करने वाला होता है। यह देरिदा की पाठात्मक रणनीति अर्थात् पढ़ने का ढंग है। भाषा की अलंकार योजना सत्य को कहती अवश्य है, पर छिपाती भी है। देरिदा का विखण्डन इसी अन्तर्विरोध को प्रकट करता है। यह अच्छे और बुरे का अन्तर्विरोध नहीं है, क्योंकि ये दोनों ही केवल विशेषण हैं। ये अलंकार ऐसे पार्थक्य हैं जो सत्य को दबाते हैं। असली बात तो पार्थक्य पाठ की बहुमुखता में छिपी रहती है।

देरिदा और मार्क्स- मार्क्सवादी क्षेत्र में देरिदा के पार्थक्यवाद को लेकर बाद में बहुत से प्रश्न उठाये गये। यह कहा गया कि क्या देरिदा का विखण्डन पाठ से राजनीति और इतिहास बाहर रखना पड़ता है। इस प्रकार वह नवरहस्यवाद है। कुछ का आरोप है कि विखण्डन द्वन्द्वात्मक से विरोधी प्रणाली है। इस पर मार्क्स के समाजवाद का प्रभाव नहीं पड़ता है। यह अत्यधिक आश्चर्य

की बात है कि देरिदा ने मार्क्स के विषय में कुछ नहीं कहा है। यूरोप में इस प्रकार के मौन का न सहने योग्य और असम्भव माना जाता है। देरिदा ने हीगेल पर तो लम्बी टिप्पणी की है, पर मार्क्स के विषय में कुछ भी नहीं कहा है।

विखण्डन सरल कार्य- कई बार विखण्डन को सरल कार्य समझ लिया जाता है। बहुत से विद्वान् इसकी सरलता का कारण विखण्डनवाद में किसी नियम का न होना और न उनकी खोज होना मानते हैं। विखण्डनवाद में निष्कर्षों और निर्णयों की भी चिन्ता नहीं की जाती। इस कारण विखण्डनवाद कुछ लोगों के निकम्मेपन का मंच बन गया है।

देरिदा के पाठ की रणनीति- लेखन लेखक के अनुसार अनुशासित नहीं है, इसलिए एक स्वतंत्र पाठ है। इसका तात्पर्य यह है कि लेखन लेखक के अनुशासन में नहीं रहता है। पाठ का अर्थ बाहर से प्रमाणित नहीं होता है। इसी दृष्टि से समीक्षा कर्म हेतुओं तथा बाहरी प्रमाण की खोज नहीं है। वह केवल विखण्डन है। विखण्डन के माध्यम से ही साहित्य विज्ञान से अलग होता है। इसका एक कारण यह भी है कि विज्ञान बाहर से प्रमाण चाहता है, साहित्य को प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है।

स्त्रीवादी उ- स्त्री पाठ का आरंभ उत्तरसंरचनावाद से हुआ। बाद में यह संरचनावाद का अंग बन गया। इसके कारण पाठ के ऐसे अनेक अर्थ खुलने लगे जो अब तक शब्द में छिपे हुए थे। 'औरत की तरह पढ़ना' उत्तरसंरचनावाद का नितान्त विखण्डनात्मक तत्त्व है। शोजां फैल्मान ने इसे सिद्धान्तों संबंधी अवधारणा माना है, पर यह अवधारणा नहीं है। यह एक जीवित कार्य है। इसमें सैक्सवादी तत्त्व काम करता है। अगर पाठ को एक स्त्री के रूप में पढ़ा जाता है, तब सैक्स संबंधी संहिता सरलता से समझ में आती है। पाठ में जो अर्थ है, उसे अर्जित करना पड़ता है। जो पुरुषवादी आलोचना है, वह इस दृष्टि की उपेक्षा करती है। अब तक जो आलोचना हुई, उसमें आलोचक का स्वर पुरुष के समान है। स्त्रीपाठ ने इस धारणा को समाप्त कर दिया।

स्त्रीवादी समीक्षा और पाठ के बाद साहित्य के पाठ की अवधारणा में परिवर्तन होता है। अब तक समीक्षाशास्त्र पुरुषवादी था, विखण्डनवाद ने स्त्रीवादी समीक्षा को बल दिया है।

समीक्षा, आलोचना और विवेचना के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य का रीतिकाल तो संस्कृत काव्यशास्त्र पर आधारित रहा। उस समय हिन्दी वालों की पहुँच संस्कृत तक ही थी। मुसलमान बादशाहों, नवाबों और उमरावों ने फारसी का प्रचार किया, पर उसकी पहुँच अधिक लोगों तक नहीं थी। फारसी में एक काव्यशास्त्र पर्याप्त तथा सुलझा हुआ नहीं था, दूसरे वह समय किसी विदेशी तत्व को स्वीकार करने के साहस से हीन था। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल अंग्रेजी शासन में आरम्भ हुआ। अंग्रेजों ने अपने धर्म के साथ-साथ अपनी भाषा एवं शिक्षानीति का भी प्रचार किया। लॉर्ड मैकाले ने जो शिक्षा नीति बनायी, वह शासन की गाड़ी खींचने के लिए क्लर्क पैदा करने के उद्देश्य पर आधारित थी। अंग्रेजी भाषा का अध्ययन करने वालों ने अंग्रेजी साहित्य को भी पढ़ा। उन्हें अंग्रेजी कविता और समीक्षा में बहुत कुछ नया प्रतीत हुआ, जिसे उन्होंने हिन्दी में उतारना और प्रचलित करना आवश्यक समझा। हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का अवतरण अंग्रेजी से ही हुआ है। हिन्दी में निराला ने तुकविहीन और विषम पंक्तियों की कविता आरम्भ की तो उस छन्द को रबर छन्द और केंचुआ छन्द कहकर हँसी का विषय बनाया, पर निराला को इसकी प्रेरणा अंग्रेजी कविता से मिली थी। प्रयोगवादी कवियों ने संस्कृत और हिन्दी के प्रचलित तथा प्राचीन छन्दों को पूरी तरह से नकार दिया और मुक्त छन्द में कविता आरम्भ की।

हिन्दी समालोचना अथवा समीक्षा का प्रवर्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शुक्ल जी संस्कृत के काव्यशास्त्र से भली-भाँति परिचित थे, परन्तु उन

पर अंग्रेजी का भी पर्याप्त प्रभाव था। शुक्ल जी ने जिस आलोचना का आरम्भ किया, वह अंग्रेजी से प्रभावित थी।

अनेक ऐसे वाद हैं, जिनका जन्म फ्रांस में हुआ। अंग्रेजों ने उन्हें अपनाया और अंग्रेजी भाषा ने उन्हें बहुप्रचलित बनाया। विखण्डनवाद, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद ऐसी विचारधाराएँ हैं, जिनका जन्म फ्रांस में हुआ तथा अंग्रेजी के माध्यम से उनका विश्व में प्रचार हुआ।

उत्तर-आधुनिकतावाद का जन्म-उत्तर-आधुनिकतावाद का जन्म फ्रांस में हुआ। क्यूबेक सरकार के आग्रह पर फ्रांसीसी विद्वान 'फ्रांसुआल्योतार' ने विकसित समाजों में विज्ञान और तकनीकी भूमिका तथा भाषा और व्यवहार के विषय में कुछ निष्कर्ष निकाले। वे निष्कर्ष 'द पोस्ट माडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नालेज' नामक रिर्पाट में सुरक्षित किये गये। यह रिपोर्ट मूल फ्रांसीसी भाषा में सन् 1979 में प्रकाशित हुई। मानचेस्टर यूनीवर्सिटी प्रेस ने सन् 1986 में इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। फ्रांसुआल्योतार की रिपोर्ट अथवा पुस्तक में जो 'पोस्ट माडर्न' पद है, इसी का हिन्दी अनुवाद 'उत्तर-आधुनिक' के रूप में हुआ। इसके प्रचलन के बाद आधुनिक को आधुनिकता में बदलकर 'उत्तर-आधुनिकता' बनाया गया। बाद में इस विचारधारा को '-आधुनिकतावाद' कहा गया।

यह तथ्य डॉ. सुधीश पचौरी की पुस्तक 'आलोचना से आगे' के आधार पर प्रस्तुत किया है। डॉ. सत्यदेव पचौरी ने अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र : अधुनातन सन्दर्भ' में संकलित अपने निबंध 'उत्तर-आधुनिकतावाद' उत्तर-आधुनिक अथवा 'पोस्ट माडर्न' शब्द के प्रयोग की बात इससे पहले ही होने की इस प्रकार कही है, "उत्तर-आधुनिकता" पदबंध जान बार्थ ने सन् 1967 में कला के सन्दर्भ में प्रयोग किया। सन् 1974 में पीटर बर्जर ने तथा ल्योतार ने सन् 1979 में अपने ग्रन्थ 'The Post Modern Condition : A Report on Knowledge में, फ्रेडरिक जॉनसन ने अपनी कृतियों 'Post Modernism', 'The Cultural Logic of Late Capitalism' आदि में इस अवधारणा की आधारशिला रखी। ल्योतार ने आधुनिकतावाद से महावृत्तान्तों का संबंध माना है। उनकी दृष्टि में महावृत्तान्तों में एक तारतम्य, समग्रता और आध्यात्मिकता का द्वन्द्व होता है। उत्तर-आधुनिकतावाद महावृत्तान्तों का विरोधी है।"

उत्तर-आधुनिकतावाद के पहले हिन्दी में आधुनिकतावाद शब्द या विचार आया था। इसे अभी ठीक से समझा नहीं गया, तब तक उत्तर-आधुनिकतावाद आ गया। उत्तर-आधुनिकतावाद को भ्रमवश लोगों ने क्या-क्या समझा है, इसके विषय में डॉ. सुधीश पचौरी का कथन इस प्रकार है-

"उत्तर-आधुनिकतावाद पर विचार करते हुए कई लोग ऐसी निष्पत्तियाँ करते हैं कि लगता है, जैसे उत्तर-आधुनिकता शुद्ध दर्शन या अवधारणा के क्षेत्र में निकला हुआ कोई विचार हो। कुछ लोग झोंक में यह भी सोच सकते हैं कि वह सब कुछ जो आधुनिकता के विरुद्ध जाता है, वह सब 'उत्तर-आधुनिक' है। कई लोग 'उत्तर-आधुनिकता' को पश्चिमी समाज में प्रचलित समलैंगिकता और कमेरी अविवाहित अकेली स्त्रियों में देखते हैं। कई उसे बाजार और 'उपभोक्ता संस्कृति' का पर्याय कहते हैं। कई इसे उस पुनरुत्थानवाद का पर्याय मानते हैं, जो अब दूसरी दुनिया के देशों में 'धर्मतत्त्ववाद' के रूप में दिखाई पड़ने लगा है। 'इस्लाम एण्ड पोस्ट मोडर्निज्म' में लेखक अकबर अहमद उत्तर-आधुनिकतावाद को पश्चिम की भूमण्डलीय सभ्यता की 'जीत' और इस्लाम के लिए चुनौती मानते हैं। ऐसे तर्कों से भारत में हिन्दुत्व के उभार को उत्तर-आधुनिक स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया का एक संकेत सिद्ध किया जा सकता है। स्थितियों का यह बहुवचनवाद स्वयं एक उत्तर-आधुनिक दृश्य है।"

इससे स्पष्ट होता है कि भारत में अधिकांश विचारक उत्तर-आधुनिकतावाद को या तो समझ नहीं पाये हैं अथवा गलत समझ रहे हैं। यहाँ तक की स्थिति तो क्षम्य और चिन्तनीय हो सकती है, पर हिन्दी में उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद के विषय में परिचित कराने के अपराध में डॉ. सुधीश पचौरी का उग्र विरोध हुआ है। यह स्थिति कछुआ धर्म की है, जो लोग जितना मानते हैं, उसी में मग्न और सन्तुष्ट हैं तथा बाहर से आने वाली हवा को रोकने के लिए दिमाग के दरवाजे बन्द कर रखे हैं, उन्हें सुधीश पचौरी का आभारी होना चाहिए।

डॉ. सुधीश पचौरी ने अपनी पुस्तक 'आलोचना से आगे' के 'उत्तर' शीर्षक से जो कुछ लिखा है, उसका एक अंश इस रूप में है-

"हिन्दी में 'उत्तर-आधुनिकतावाद' और 'उत्तर-संरचनावाद' के बारे में पहली सूचना देने का अपराध लेखक ने किया था, उसके नतीजे बड़े दिलचस्प रहे हैं। हिन्दी में उत्तर-युग की शुरूआत अब मानी जाने लगती है। इन पदों के चलन में आते ही पहली प्रतिक्रिया प्रगतिशील-समीक्षा और नव्य-समीक्षा के खर्च हो चुके उस्तादों में दिखी। वे खिसियाए, परेशान हुए और फिर इसके खिलाफ खड़े हो गये, लेकिन बिना उसे जाने, बिना उसे पढ़े। मनोरंजक सूचना यह है कि पिछले बरसों लगातार कई-कई परशुराम अपने फरसे को दिखाते रहे, लेकिन नई स्थितियों, नई सिद्धांतिकियों के बारे में उन्होंने न तब जाना-पढ़ा, न अब, जबकि जीवन में वे अंकन उन्हीं 'उत्तर-दिशाओं' में डूबे हुए हैं।"

दूसरी प्रतिक्रिया, जो कुछ अरसे बाद हुई, नई उत्तर-आधुनिकता को अपना बनाने की रही और कहा जाने लगा कि यह कोई नई बात नहीं है।

तीसरी प्रतिक्रिया एकदम उत्तर-आधुनिक किस्म की रही। कई कविताओं-कहानियों में उत्तर-आधुनिकता पद पर ऐसी फब्तियाँ कसी गई, मानो वह सड़क पर पड़ी कोई कृतियाँ हों, जिसे हर शोहदा लात मारकर निकलना जरूरी समझता है। वह प्राय: मजाक का विषय बनी। यह उसकी स्वीकृति से ज्यादा उसके महत्त्व को स्वीकार करता था।

चौथी किन्तु सर्वाधिक दयनीय प्रतिक्रिया उन रणबाँकुरों की रही जो बताने लगे कि उत्तर-आधुनिकता तो पश्चिम में मर चुकी। इस लेखक ने कहा कि अगर मर चुकी है तो आप क्यों परेशान होते हैं?

डॉ. सुधीश पचौरी के इस कथन से यह तथ्य सामने आता है कि हिन्दी जगत् को 'उत्तर-आधुनिकतावाद' से सबसे पहले उन्होंने परिचित कराया और इसे समझाने के स्थान पर हिन्दी के मठाधीशों और ठेकेदारों ने इसे समझने का प्रयत्न नहीं किया। अब प्रश्न रह जाता है कि उत्तर-आधुनिकता आखिर है क्या, इस पर चर्चा करने से पूर्व डॉ. सत्यदेव मिश्र ने इसका जो परिचय दिया है, उसे जान लेना सुविधाजनक होगा।

"उत्तर-आधुनिकता पूँजीवादी विकास की नई स्थिति है। नवपूँजीवाद की नाना विकृतियों और नाना रूपों से सामाजिक साक्षात्कार उत्तर-आधुनिकता है। उत्तर-आधुनिकता एक सामाजिक विचारधारा या विचारधारा (प्रत्यय) है। 'उत्तर-आधुनिकतावादी' उस सामाजिक विधारणा का संस्कृति रूप या सांस्कृतिक अवधारणा (प्रत्यय) है।"

उत्तर-आधुनिकता विशेषणहीन वृत्तान्त की पक्षधर है। महावृत्तान्तों (रामायण, महाभारत, बाइबिल) आदि का नकार उसका मूल मंत्र है। उत्तर-आधुनिकता मूल्य मीमांसा को भी नकारती है। वह मूल्यहीनता का पक्षधर है। वह अनुभावन पर बल देती है। यह एक व्यक्ति केन्द्रित (अनुभावन की दृष्टि से) समीक्षा या चिन्तनदृष्टि है। कुछ भी अपने में सम्पूर्ण नहीं होता। अत: सम्पूर्णता की धारणा का उत्तर-आधुनिकता खण्डन करती है। मूल्यवादी दृष्टि से विचार करें तो बोदां और ल्योतार दोनों ही मूल्यों को नकारते हैं, अराजकतावादी हैं। चूँकि प्रौद्योगिकी, तकनीक और सूचना विस्फोट

(क्रान्ति) ने पूरे विश्व की भौगोलिक सीमाओं को तोड़ा है और विश्व बाजार, विश्व नगर जैसी धारणाओं को जन्म दिया है, इसलिए सम्पूर्णतावादी विचारों का यहाँ खण्डन है। वस्तुत: उत्तर-आधुनिकता साहित्य समीक्षा की एक प्रणाली हो सकती है। यह स्थूल अर्थ के अर्थ के स्थान पर साभिप्रायता और अर्थ की अनेक छायाओं और प्रतिछायाओं के लीला-व्यापार को रेखांकित करने वाली समीक्षा दृष्टि है। यहाँ अर्थवेत्ता को विलोपित और स्थगित नहीं किया जाता, वरन् अर्थ विच्छिति की संधान क्रिया करने के लिए कुछ समय के लिए अर्थ का स्थगन किया जाता है। उत्तर-आधुनिकता में शब्दजाल की एक क्रीड़ा है, जिसे भावकीय/आलोचकीय अनुभावन से प्राप्त अन्यान्य अर्थों में सम्पृक्त किया जा सकता है। भाषा या पाठ के केन्द्र में जैसे उत्तर-संरचनावाद में रखा जाता है, उसी तरह उत्तर-आधुनिकतावाद में। उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद में साम्य के अनेक धरातल हैं और एक-दूसरे के पूरक भी हैं। उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धान्तों का अतिक्रमण तथा सांस्कृतिक साहित्यानुशासन से विरक्ति और श्रवणीयता के प्रति आसक्ति पाई जाती है। प्रतीकवादी और बिम्बवादी संकल्पनाओं की अस्वीकृति यहाँ है तथा श्रवणीयता पर बल है अर्थात् जो सन्देश साहित्य में प्रत्यक्षत: यहाँ सुनाई दे रहा है, उसी की अनुगूँज की तलाश होनी चाहिये अर्थात् काव्यगत व्यंग्य रेखांकित होना चाहिए।"

ल्योतार ने उत्तर-आधुनिकता को ज्ञान की ऐसी अवस्था बताया है जो उच्च विकसित समाजों में पिछले दशकों में बढ़ी है। उत्तर-आधुनिकता पद समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजनीति, सौन्दर्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र में प्रचलित हो गया है। आधुनिकतावाद की स्थिति विचित्र है। आधुनिकतावादी कभी अपने सुधारवाद में उसी व्यवस्था को पुष्ट करता है, जिसे उसने तोड़ने का प्रयत्न किया था। ल्योतार ने आधुनिकतावादी ज्ञानावस्था के नये सीमान्तों को उधेड़ दिया है।

आधुनिकतावाद को जन्म देने वाले ल्योतार के अनुसार हर वह स्थिति अथवा प्रक्रिया आधुनिक है जो अपनी वैधता की सिद्धि के लिए 'अतिवृत्तान्त' या 'महावृत्तान्त' का सन्दर्भ देती है। वैधता से ल्योतार का तात्पर्य वैधता है। उत्तर-आधुनिकता का तात्पर्य आधुनिकता की समाप्ति के बाद की स्थिति नहीं है, अपितु यह सिद्ध करती है कि इस प्रकार की आधुनिकता का जन्म अब नहीं होगा।

ल्योतार ने विकसित समाजों में तकनीकी स्थितियों में चली आ रही अवधारणा को अवैध सिद्ध किया है और बार-बार यह दिखाया है कि आधुनिकता की सीमाएँ हैं। उनके अनुसार यथार्थवाद का प्रतिनिधि कोई भी वाद नहीं हो सकता। डेनियल बैल ने इस बात की चर्चा की है कि सभी चीजों का उत्तरकाण्ड है अर्थात् सभी की उत्तर अर्थात् पश्चातवर्ती स्थिति बनती है। ल्योतार के अनुसार उत्तर-आधुनिकतावाद पद उन्नीसवीं शताब्दी के बाद उस सांस्कृतिक अवस्था के बहुत से परिवर्तनों के फलस्वरूप बना। सांस्कृतिक अवस्था ने विज्ञान, साहित्य और कलाओं के लिए जो लोग अन्तिम खेल नियम मान रहे थे, आधुनिकतावाद ने उनकी मान्यता को पलट दिया है। इस आधार पर ल्योतार ने उत्तर-आधुनिक युग को आधुनिकता की शिथिलता का योग कहा है। जिन दिनों अति आधुनिक समाजों जैसे सोवियत समाज के गिरते चले जाने की भविष्यवाणी हो रही थी, उन दिनों इन समाजों ने उत्तर-आधुनिक स्थितियों को ही अस्त-व्यस्त किया था।

वर्तमान में उत्तर-आधुनिकतावाद को पहचानने की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ. सुधीश पचौरी ने लिखा है-

"उत्तर-आधुनिकता के लक्षणों को पहचानने के लिए उपलब्ध ज्ञान अवस्था की पड़ताल जरूरी है। ज्ञान की अवस्था दो प्रक्रियाओं पर निर्भर है-वैज्ञानिक प्रक्रिया और वृत्तान्त प्रक्रिया। ल्योतार कहते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान एक प्रकार का विमर्श (डिस्कोर्स) है और जब तक यह विमर्श है, वह भाषा पर निर्भर है। पिछले चालीस-पचास सालों से विज्ञान अपने को खोलने

के लिए लगातार भाषा के सिद्धान्तों में फँसा रहा है, यह संचार, साइबर नैटिक्स, गणित, कम्प्यूटर, उनकी भाषा, अनुवाद की समस्या, सूचना संग्रह और आँकड़ा बैंकों पर निर्भर है।"

अर्नेस्ट मैंडेल ने एक पुस्तक की रचना की है, जिसका नाम 'लेट कैपीटलिज्म' है। इस का अर्थ है-नवपूँजीवाद। इसमें लेखक ने तकनीकी संचय तथा विज्ञान संचय को ही विकसित देशों के द्वारा बनायी गयी उपभोक्तावादी संस्कृति के मूल में माना है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान के संचय ने ही उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। उनके अनुसार विज्ञान का संचय ही नवपूँजीवाद की व्यवस्था का भी कारण बना है। यह साम्राज्यवाद की नयी व्यवस्था है। उपभोक्तावाद की इस अत्यधिक बढ़ी हुई स्थिति संग्रहवाद की पराकाष्ठा है। इस प्रकार विचार करें तो जान पड़ेगा कि उत्तर-आधुनिकतावादी ल्योतार ने सबसे अधिक प्रकार से प्रहार किये हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद ने आधुनिकता पर तो प्रहार किया ही है, इसके अतिरिक्त आधुनिकता के नये क्रम में जो सौन्दर्य, शान्ति और विराट से संबंधित संकल्पनाएँ आती हैं, उत्तर-आधुनिकतावाद ने उन पर सन्देह किया है। रामायाण, महाभारत, बाइबिल आदि के जो महावृत्तान्त है, उन पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया है।

उत्तर-आधुनिकता के विषय में अमेरिकी विचार- अमेरिका के जो विचारक हैं, उन्होंने उत्तर-आधुनिकता के संबंध में अनेक प्रकार के विचार प्रस्तुत किये हैं तथा उनके विश्लेषण का प्रयत्न भी किया है। उत्तर-आधुनिकता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अमेरिकी विचारकों ने अपने प्रश्नों को सामने रखा है। उन प्रश्नों में से एक यह भी है कि क्या उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता से सर्वथा भिन्न है? क्या उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता का अगला चरण है? तात्पर्य यह है कि क्या आधुनिकता ही विकसित होकर उत्तर-आधुनिकता बन जाती है। उत्तर-आधुनिकतावाद उत्तर-संरचनावाद, उत्तर-प्रौद्योगिक आदि से कहाँ तक संबंध रखता है।

उत्तर-आधुनिकतावाद अनेकों का दर्शन- यह वास्तविकता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद किसी एक व्यक्ति का नहीं है। तात्पर्य यह है कि उत्तर-आधुनिकतावाद की उद्‌भावना और व्याख्या एक विचारक का कार्य नहीं है। इसकी रूपरेखा अनेक विचारकों ने प्रस्तुत की है। इस कारण उसमें अनेक अन्तर्विरोध उपस्थित हुए हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद वैसे एक निश्चित दर्शन है। अनेक विचारकों ने इसके विषय में अपनी-अपनी उद्‌भावनाएँ की हैं, जिनमें कुछ एक-दूसरे के अनुरूप हैं और कुछ-एक दूसरे से भिन्न हैं।

उदाहरण के लिए वास्तुकला का क्षेत्र लिया जा सकता है। जब वास्तुकला के क्षेत्र में उत्तर-आधुनिकतावाद का दर्शन प्रस्तुत किया गया तो उसमें आधुनिकतावादी शैली का नकार अथवा विरोध हुआ था। तात्पर्य यह है कि उत्तर-आधुनिकतावाद ने वास्तुकला की अन्तर्राष्ट्रीय शैली का विरोध हुआ। राबर्ट बेंतुरी और जेम्स स्टर्लिंग की जो रचनाएँ हैं, उनमें वास्तुकला की अन्तर्राट्रीय शैली का विरोध देखा जा सकता है। इस आधार पर वास्तुकला के विद्वानों और विचारकों में उत्तर-आधुनिकता को मृत घोषित कर दिया गया। फ्रांस के उत्तर-संरचनावादियों ने उत्तर-आधुनिकतावाद को वास्तुकला की अन्तर्राष्ट्रीय शैली के अनुकूल बताया। देल्युज देरिदा और माइकेल फुको ने उत्तर-संरचनावाद की जो स्थितियाँ बतायी थीं, वे सब उत्तर-आधुनिकतावाद में भी जीवन्त बतायी गयी हैं। वैसे बीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी और अमेरिकी विचारक अनेक अर्थों में एक-दूसरे के विरोधी थे, पर उत्तर-आधुनिकतावाद के विषय में एक-दूसरे के समीप आये। दोनों ने मानव जगत के यथार्थ को विखण्डित करके उसमें परस्पर विरोधी, विजातीय और अनेकता की बात कही। उनके अनुसार मानव यथार्थ, निश्चित, अन्तिम और विकल्पहीन नहीं है। वह परिवर्तनशील रहा है और रहेगा।

आधुनिकतावाद के विषय में कहा गया है कि किसी भी क्षेत्र में आधुनिकतावाद अन्तिम धारणा नहीं है। समाज ही नहीं, उसका विकास भी परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि परिवर्तनशीलता उसका स्वभाव है। यदि समाज परिवर्तनशील है तो उस पर आधारित कला, दर्शन, प्रौद्योगिकी आदि का भी विकास होगा, ये एक दशा में नहीं रह सकते। आधुनिकतावादियों ने इन स्थितियों को भली-भाँति नहीं समझा। ल्योतार और बौद्रिदा ने यह चर्चा सदा की है कि पश्चिम के आधुनिकतावादी जीवन में परिवर्तन संभव है।

उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकतावाद का अगला चरण- उत्तर-आधुनिकतावाद वास्तव में आधुनिकतावाद की अगली स्थिति है, उसका अगला चरण है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आधुनिकतावाद ने ही उत्तर-आधुनिकतावाद को जन्म दिया है। आधुनिकतावाद उत्तर-आधुनिकतावाद का जन्मदाता होकर भी उससे भिन्न है। तात्पर्य यह है कि आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद में परस्पर किसी भी प्रकार की समानता नहीं है।

उत्तर-आधुनिकतावाद और भारत- उत्तर-आधुनिकतावाद का संबंध पश्चिम की जीवन शैली और वहाँ के साहित्य से है। भारतवर्ष का साहित्य और भारतीय जीवन-शैली तो आधुनिकतावाद को ही ठीक से नहीं अपना सकी है तो उत्तर-आधुनिकतावाद तो भारतवर्ष के लिए भविष्य की और बहुत दूर की बात है। भारतवर्ष का साहित्य अभी उत्तर आधुनिकतावाद से अभी आक्रान्त नहीं है। कभी-कभी भारतीय साहित्य में इसकी चर्चा होने लगती है जो एक प्रकार की अनुगूँज है। यदि हिन्दी साहित्य की बात की जाये तो इसमें अभी तक आधुनिकतावाद ने ही प्रवेश नहीं किया है, उत्तर-आधुनिकतावाद अभी हिन्दी के लिए दूर की मंजिल है। संरचना, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद भी हिन्दी आलोचना में चर्चा के विषय बन सके हैं। इन वादों अथवा विचारधाराओं के आधार पर अभी हिन्दी में गद्य या पद्य साहित्य की रचना नहीं हो रही है।

महत्त्वपूर्ण लघुउत्तरीय प्रश्न

प्लेटो के अनुकरण सिद्धांत

प्लेटो ने कविता और चित्रकला को समकक्ष ही रखा है तथा उसका कहना है कि कवि शब्दों का और चित्रकार रंगों का अनुकरण करता है। अतएव कवि और चित्रकार दोनों ही यथार्थ वस्तुओं का चित्रण नहीं करते, क्योंकि यथार्थ वस्तु जो शिल्पी की बनाई हुई है, एवं दोनों शिल्पी की बनाई हुई वस्तुओं की नकल करते हैं। वस्तुतः कवि की दशा चित्रकार जैसी ही है कवि एक निराधार प्रतिरूप का ही सृजन करता है तथा वह संपूर्ण के स्थान पर बाह्य और ऊपरी तथा यथार्थ के स्थान पर अयथार्थ का चित्रण कर न केवल भ्रम के जगत में निवास करता है बल्कि पाठकों को भी बहकावे में डालता है। इस प्रकार प्लेटो के कथनानुसार काव्य प्रकृति का अनुकरण है और प्रकृति सत्य का अनुकरण है तथा हम वास्तविकता में जो कुछ देखते हैं, कला उसके अनुकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इतना ही नहीं चित्र, मूर्ति, उपन्यास और नाटक आदि सभी मूल कृतियों के अनुकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा प्रत्येक वस्तु की पृष्ठभूमि में उसका वैचारिक रूप भी रहता है जिसके द्वारा हम उस वस्तु को जानते हैं। इसलिए प्लेटो ने अदृष्ट लोक के आदर्श रूप में भी अनुकरण की कल्पना की थी पर वह इस तरह का अनुकरण उच्च कोटि के काव्य में ही संभव समझता है।

प्लेटो ने काव्य को अनुकृति की अनुकृति माना है। उन्होंने काव्य की परीक्षा नैतिकता के आधार पर की है। प्लेटो गणितज्ञ थे। अत: विचार का महत्व वस्तु की तुलना में अधिक मानते थे। प्लेटो मानता था कि कवि नैतिक गुणों आदि की नकल प्रस्तुत करते हैं। अत: सत्य उनकी पहुंच के बाहर ठहरता है। साथ ही अनुकर्ता को अनुकार्य वस्तु का बिल्कुल ज्ञान नहीं होता है। अनुकरण केवल एक खिलवाड़ा ही है और कवि चाहे जिस छंद में रचना करे, अनुकर्ता मात्र है। मानविकी पारिभाषिक कोष में लिखा है कि प्लेटो का सत्य अमूर्त अपरिवर्तनशील विचार है। मनुष्य भी इसी प्रकार के एक विचार अथवा अमूर्त कल्पना का द्योतक है। भौतिक जगत् के सभी जीव एवं वस्तु व्यापार विचारों की छाया मात्र है, अतएव सत्य है। काव्यकार अपने काव्य में इसी भौतिक जगत का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से काव्य 'सत्य की छाया' विचार के अनुकरण का अनुकरण है।

विरचन का अर्थ

विरेचन सिद्धांत मूलत: मानवीय भावनाओं से संबद्ध है। इसकी व्याख्या प्रत्येक विद्वान ने अपने-अपने अनुसार की है। अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द कैथार्सिस है। हिन्दी में इसका अनुवाद रेचन, विरेचन या परिष्करण किया गया है। मूलत: यह शब्द चिकित्साशास्त्र का है, जिसका अर्थ है, रेचक औषध द्वारा अशुद्धत: तथा अस्वास्थ्यकर पदार्थ का बहिष्कार कर शरीर व्यवस्था को शुद्ध और स्वस्थ करना। अरस्तू स्वयं भी वैद्य थे। अत: उन्होंने इसका प्रयोग काव्यशास्त्र में लक्ष्यार्थ में किया। इसे हम दलित भावनाओं से उत्पन्न (मानसिक) रोगों की औषध के रूप में कह सकते हैं। प्राय: सभी भाव, जो मूल मनोवृत्तियों पर आश्रित होते हैं, मानव के मन में सुप्तावस्था में रहते हैं और अचेतन मन में स्थित रहते हैं। जीवन में अगर उनको परितोष न मिले तो उनसे अनेक रोग-कुंठा आदि उत्पन्न हो जाते हैं। विरेचन मन को शुद्ध रखने के लिए, उनको परिष्कृत कर शुद्ध करने का माध्यम देता है।

अत: लक्षण के आधार पर परिवर्ती व्याख्याकारों ने विरेचन के तीन अर्थ किए हैं-(1) धर्मपरक, (2) नीतिपरक और (3) कल्पनापरक।

विरेचन के अनुसार त्रासदी की कटुआ का दंश नष्ट हो जाता है, उत्तेजना खत्म होकर मन:शक्ति प्राप्त होती हैं, क्योंकि त्रासदी में 'त्रास' और 'करुणा' साथ-साथ चलते हैं। हम पीड़ापरक स्थिति में पड़े व्यक्ति के प्रति 'करुणा' अनुभव करने के साथ ही भय (त्रास) भी अनुभव करते हैं कि कहीं यह विपत्ति हम पर न आ जाए।

त्रासदी की परिभाषा और स्वरूप- अरस्तू से त्रासदी के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है। "त्रासदी किसी गंभीर स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के अभिकरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है तथा जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"

इस आधार पर अरस्तू ने त्रासदी को कार्य की अनुकृति माना है और त्रासदी में निम्नलिखित तत्वों को खोजा है- (1) गांभीर्य, (2) स्वत: पूर्णता, (3) निश्चित आयाम, (4) कार्य का वर्णन नहीं, प्रदर्शन, (5) अलंकृत भाषा, (6) त्रासद-करुणा को जगाने वाली घटनाएं ओर (7) उद्देश्य रूप भावों का परिष्कार।

अरस्तू द्वारा दी गई त्रासदी की यह परिभाषा अत्यंत व्यापक है और मानव के मूलभावों करुणा तथा त्रास का विरेचन के आधार पर परिष्करण होने की क्रिया का समाख्यान करती हैं।

त्रासदी के अंग- इस विवेचन के आधार पर त्रासदी के छह अंग होते हैं-(1) कथानक, (2) चरित्र-चित्रण, (3) पद रचना या भाषा, (4) विचार तत्व, (5) दृश्य विधान और (6) संगीत।

इसमें कथानक, चरित्र-चित्रण एवं विचार तत्व अरस्तू के अनुसार अनुकरण के विषय और दृश्य विधान माध्यम है तथा पद रचना व संगीत अनुकरण की विधि है।

मार्क्सवादी समीक्षा सिद्धांत

मार्क्सवादी समीक्षा-सिद्धांत-जिसे प्रगतिवादी समीक्षा-सिद्धांत भी कहा जाता है-मार्क्स से पूर्व भी बेलिस्की, हर्जन, चर्नीशेब्सकी, द्रो ब्राल्यूबोव आदि चिंतकों में भी दिखाई देते हैं, किन्तु मार्क्सवाद का जन्मदाता होने के कारण मार्क्स और उसके सिद्धांतों का प्रमुख व्याख्याता होने के कारण एंगिल्स का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है।

मार्क्स का पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है, लेकिन समीक्षा-सिद्धांत पर कोई कृति उनकी उपलब्ध नहीं है। उनका साहित्य आर्थिक विषमताओं पर आधारित है। उसी में जहां-तहां साहित्य संबंधी विचारों को भी देखा जा सकता है।

मार्क्सवादी चिंतन बहुत व्यापक है, जिसे सत्यदेव मिश्र ने चार भागों में विभाजित किया है-

(1) *द्वंद्वात्मक भौतिकवादी*

(2) *इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या अथवा ऐतिहासिक भौतिकवाद*

(3) *वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत*

(4) *अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत*

हिन्दी काव्यशास्त्र में 'स्वच्छंतावाद' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म के स्थान पर हुआ। यह शब्द 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (आचार्य शुक्ल) में पं.श्रीधर पाठक को स्वच्छंतावाद का प्रवर्तक मानते हुए किया गया।

'रोमांटिसिज्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'रोमांटिक' विशेषण से हुई है जिसके फ्रांसीसी भाषा में 'रोमांस', 'रोमान्ज' आदि रूप पाये गये हैं। रोमांज वास्तव में उस अपकर्षी व्याख्यान के लिए प्रयुक्त हुआ जो कपोल, कल्पना प्रधान और मध्ययुगीन स्वच्छ प्रवृत्ति का परिचायक है। असल में मध्ययुगीन यूरोपीय साहित्य में रोमांस का प्राधान्य था। अत: वह साहित्य जो प्रेम, शौर्य, छल, कपट एवं उद्दाम वासनाओं से युक्त था-रोमांस का पर्यायवाची बन गया तथा अंग्रेजी साहित्य में इसे 'स्वच्छंतावाद का पुनरुत्थान' कहा गया।

शिपले की मान्यता है कि 'रोमांटिक' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1654 के लगभग 'विश्व साहित्य कोश' में हुआ जिसका अर्थ 'रोमांस के समान' बताया गया। सत्रहवीं शताब्दी तक यह अर्थ शब्द के उत्कर्ष का द्योतक नहीं माना जाता था। उत्तम एवं गुणात्मक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अठारहवीं शताब्दी में आरंभ हुआ और इस शब्द ने पर्याप्त ख्याति भी प्राप्त की।

इस शब्द का प्रयोग 'काव्य-प्रवृत्ति' या 'वाद' के रूप में सर्वप्रथम जर्मन आलोक फैड्रिक श्लेगल ने 'क्लासिसिज्म' विरोधी अर्थों में अपनी पुस्तक 'एथेंडम' में किया तब से इसका प्रयोग साहित्य में प्रचलित हो गया।

अस्तित्ववाद का स्वरूप- अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट गतिरोध अथवा संक्रांति का वर्णन है। यह संकटापन्न स्थिति ही इस विचारधारा के प्रति अन्यान्य विचारकों के आकर्षण का

कारण है। इसके अनुसार हमारी आध्यात्मिक स्थिति के मूल में संकट विद्यमान है। प्रत्येक सत्य जो अनेक अनुभवों से ज्ञात होता है वह भी सहस्त्रों अनावश्यक असत्यों से आवेष्टित रहता है, परिणामत: वह जल्दी ही लुप्त हो जाता है। अत: लक्ष्यविहीन अशांत रहती है और आंतरिक ज्ञान अंधकारपूर्ण हो जाता है। इसका फल यह होता है कि अंध श्रद्धा को कार्य का आधार मान लिया जाता है।

अस्तित्ववाद इस आध्यात्मिक संकट की व्याख्या कर प्रतिभा से दूर करने का प्रयत्न करता है। इसे पराभववाद का नाम भी दिया जाता है। यह एक आध्यात्मिक मन:स्थिति का वातावरण है। यह दर्शन काव्यात्मक दर्शन है। इसके प्रभाव से लिखा गया काव्य भावात्मकता की ओर अधिक झुका होता है यद्यपि इसमें प्रधानता तर्क की भी होती है।

अस्तित्ववाद अस्तित्व को सारतत्व से अधिक प्रधानता देता है। सारतत्व दो प्रकार का होता है। (1) समष्टिगत तथा व्यष्टिगत। समष्टिगत सारतत्व एक ही जाति के सभी पदार्थ में ही पाये जाते हैं और व्यष्टिगत सारतत्व किसी विशिष्ट पदार्थ में ही पाये जाते हैं। पहले प्रकार के तत्वों में विवेक रहता है और उन्हीं तत्वों के कारण एक जाति दूसरी जाति से भिन्नता ग्रहण करती है, जैसे मानव-जगत के समष्टिगत सारतत्व ही उसे पशु से भिन्न करते हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व सार में होता है पहले उसकी कल्पना कर ली जाती है। यदि ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानी जाए, तो यह सिद्ध होता है कि उससे पहले इस जगत की कोई कल्पना अवश्य की होगी। इस सारतत्व को अस्तित्व से भी अधिक महत्ता दी गई है। कारण मनुष्य पहले निम्न धरातल पर रहता है और उस समय तक प्रकृति के निम्न अस्तित्वों के जगत में रहता है। पर जब वह उच्च धरातल पर पहुंच जाता है तो अस्तित्वों से निकलकर सारजगत में पहुंच जाता है और फिर वहां कोई कामना नहीं रहतीं।

अस्तित्ववाद में यह क्रम विपरीत हो जाता है। अस्तित्ववादियों ने सारतत्व के स्थान पर अस्तित्व को ही प्रधानता दी है। कारण, व्यक्ति की रुचि तो केवल उन पदार्थों में ही रहती है जिनका अस्तित्व है। अस्तित्ववादियों का विचार है कि जो सत्य है उसका अस्तित्व है, जिसका भी अस्तित्व है, वह सार है। अत: अस्तित्ववादी विचारक प्रत्येक प्रत्यक्ष सत्ता का अस्तित्व मानता है और उसे सत्य मानता है।

मनोविश्लेषणवाद मानव-मन के विश्लेषण करने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है, जिसका जन्मदाता वियना के मस्तिष्क चिकित्सा सिग्मंड फ्रायड को स्वीकार किया जाता है। इस पद्धति पर पर्याप्त विचार हुआ है, पर विशेष महत्व एडलर और कार्ल जुंग को ही दिया जाता है।

फ्रायड ने 1881 में मस्तिष्क चिकित्सक के रूप में व्यवसाय प्रारंभ किया। इससे पूर्व उसने अपनी शिक्षा रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र तथा शरीर-शास्त्र के माध्यम से पूरी की थी। उसने यह स्वीकार किया कि 'सम्मोहन' द्वारा मानसिक चिकित्सा सुगम है। इस सम्मोहन-चिकित्सा पद्धति का अध्ययन उसने पेरिस जाकर वहां के प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क चिकित्सक डॉक्टर चारकोट के साथ किया। उसका निष्कर्ष था कि सम्मोहन अवस्था में व्यक्ति से वे सारे रहस्य जाने जा सकते हैं जो इससे विपरीत दशा में शायद प्रकट न हो सकें। अत: सम्मोहन व्यक्ति के अचेतन तक पहुंचने का सहज साधन है। यह भी माना गया कि मानसिक विकृति के दो कारण हैं-भूली हुई या भुलाई हुई घटनाएं और दमित इच्छाएं। अत: सम्मोहन, स्वच्छंद विचार, सामाजिक अवरोध-हीनता, उसे पुरानी स्मृतियों को जीवित करने और सहज स्वस्थ होने में सहायक है।

फ्रायड ने जीव विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों का आधार लिया है-

इन्होंने मानव व्यक्तित्व के शिल्पीकरण की प्रक्रिया में तीन तत्वों को स्वीकार किया-इदम्, अहम्, अति अहम्।

उदात्त सिद्धांत

लोजाइन्सन के अनुसार उदात्त काव्य की रचना वही कर सकता है जो उदात्त हृदय एवं उदात्त चरित्र वाले हों।

उदात्त का अर्थ स्वरूप- उदात्त का शाब्दिक अर्थ है, उच्च महान श्रेष्ठ आदि। हिन्दी शब्दार्थ-पारिजात में उदात्त का अर्थ बताया है-स्वरित, दया, त्याग आदि गुण संपन्न मनोहर, महान् दाता श्रेष्ठ योग्य। वी.एस. आप्टे संस्कृत, इंग्लिश कोष में उदात्त के निम्नलिखित अर्थ माने गये हैं-High, Elevated, Lofty, Exalted, Noble, Sublime, Dignified. इन सभी अर्थों से स्पष्ट होता है कि उदात्त का प्रयोग उच्च, उत्कृष्ट आदि के लिए किया जाता है।

लोजाइनस ने कहीं भी उदात्त का अर्थ स्पष्ट नहीं किया और न ही उसकी परिभाषा दी, वरन् उन्होंने साहित्य के सब गुणों में इसे श्रेष्ठ माना। उन्होंने लिखा-"उदात्त तो साहित्य के सब गुणों में महान है।" यह वह गुण है, जो अन्य क्षुद्र त्रुटियों के बावजूद साहित्य को सच्चे अर्थों में महत्वपूर्ण बना देता है। इतना ही नहीं, लोजाइनस का मत है कि इसी गुण के आधार पर साहित्यकार ख्याति प्राप्त करता है। उन्होंने लिखा है-"वाणी का ऐसा वैशिष्ट्य और चरमोत्कर्ष जिससे महान् कवियों और इतिहासकारों को जीवन में प्रतिष्ठा और अमर यश मिलता है।" उनका विचार है कि श्रोता अतरा पाठक को अत्यधिक आनंद प्रदान करने वाला यही तत्व है। उन्होंने बताया कि काव्यानंद प्रदान करने वाला तत्व रचना-नैपुण्य से भिन्न, अधिक सूक्ष्म और गहरा है। इस तत्व को ही इन्होंने उदात्त की संज्ञा दी।

रिचड्र्स कविता पर मनोविज्ञान और भाषा विज्ञान की दृष्टि से विचार करता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में रिचडर्स की रुचि नाना विषयों में थी। दर्शनशास्त्र मेटाफिजिक्स (तत्व मीमांसा), नीतिशास्त्र, साहित्यशास्त्र, कला, मनोविज्ञान, विज्ञान आदि में उसकी अच्छी पैठ थी, साहित्य और कला के संबंध में अपने विचार प्रकट करते समय उसने अपनी इस बहुलता का पूरी तरह उपयोग किया। यही कारण है कि आई.ए. रिचड्र्स के विचारों में जैसी गहराई है वैसे ही ताजगी भी। उसकी आलोचना में रूमानी आलोचना का भावनाद, कर्नाल्ड की सामाजिकता तथा मनोविज्ञान की अंतर्दृष्टि का समावेश दिखाई देता है। रिचड्र्स एक ओर तो कलागत मूल्यों की रक्षा करते हैं और दूसरी ओर उन्हें वृत्तियों की व्यवस्था और समन्वय के कार्य द्वारा जीवन से भी संबद्ध कर देता है।

रिचड्र्स के अनुसार मूल्य का मानक मानवीय क्रियाओं के सामान्य मानों से पृथक नहीं होता। साहित्य एक मानवीय प्रक्रिया है अत: उसका मूल्य निर्धारण करने वाले तत्व या मान भी वे ही हैं जो मानवीय क्रियाओं के लिए अपेक्षित होते हैं। इनके अनुसार कविता का मूल्य मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है-"Arts are the supreme form of the communicative activity" जितनी अधिक संप्रेषणीयता किसी रचना में होगी, वह रचना उतनी ही उत्कृष्ट कोटि की कही जायेगी। इसके अनुसार मन का अर्थ है मनोवेगों की क्रियाशीलता शिराविषयक व्यवस्था। मन में आवेग उसकी व्यवस्था को भंग किये रहते हैं। कला का प्रयोजन-मानव मन के आवेगों में संगति और संतुलन उपस्थित करना।

रिचड्र्स ने सौंदर्य को विषयनिष्ठ माना है एवं सौंदर्य का एक विशेष मूल्य माना है। उन्होंने मूल्यांकन का संबंध अन्य मानवीय प्रक्रियाएं मानसिक उद्वेगों से रहता है इसके दो रूप हैं-1. प्रवृत्ति मूलक, 2. नियति मूलक।

इनके काव्य संबंधी विचारों को कई रूपों में परखा गया है-

(i) **शास्त्रीयतावाद का समर्थन-** अर्नाल्ड प्राचीन काव्य-परंपरा का प्रबल समर्थक था। उसने इंग्लैंड के साहित्य को शास्त्रीय मूल्यों पर ही आंकने की चेष्टा की। उसने ग्रीक, फ्रांसीसी तथा 18वीं शती में शास्त्रीय साहित्य को अनुकरणीय बताया। अर्नाल्ड का यह मत है कि यदि किसी कवि की रचना शास्त्रीय अर्थात् क्लासिकल है तो हमें उस रचना का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

-भा. एवं पा. साहित्यशास्त्र

(ii) **काव्य-विषय-** काव्य-विषय के रूप में मानव के वे कार्य-व्यापार जो कि शाश्वत एवं महानतम् आनंद की उपलब्धि कराने में समर्थ हैं, ही काव्य-विषय बनने योग्य हैं। उनके अनुसार कार्य-व्यापार होते युग-सापेक्षता आवश्यक नहीं है। ये कार्य-व्यापार ऐसे होने चाहिए जो हर समय, हर एक को आनंद प्रदान कर सकें।

(iii) वे काव्य को जीवन उपयोगी स्वीकार करते हैं।

(iv) **उत्कृष्ट शैली-** अर्नाल्ड यह स्वीकार करते हैं कि उत्कृष्ट कोटि की काव्य-रचना के लिए उत्कृष्ट कोटि की शैली भी आवश्यक है। उन्होंने शैली की उत्कृष्टता के नियामक के उन्होंने साहित्य के संबंध में दो तत्वों को प्रमुख माना है-1. सृजन शक्ति, 2. आलोचक का कार्य।

प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

(1) **काव्य प्रेरणा-** प्लेटो ने कविता को अन्तःप्रेरणा की देन अथवा स्वतः प्रसूत भावोद्‌गार माना है। कवि गम्भीर चिन्तन और मनन के बाद ही काव्य रचना का आरम्भ मानता है।

(2) **अभिव्यक्ति और सत्य-** प्लेटो के अनुसार कवि की गम्भीर अभिव्यक्ति जब किसी सत्य का उद्‌घाटन करती है और जब कवि कर्म तर्क की कसौटी पर कसकर किया जाता है तो सत्य की अभिव्यक्ति होना आवश्यकता है, पर सदा ऐसा नहीं होता।

(3) **नैतिक मान्यताओं के विपरीत-** प्लेटो ने काव्य को नैतिक मान्यताओं के विपरीत माना है। मानव जीवन में जो कुछ उदात्त और वांछनीय माना जाता है, काव्य में उसके विपरीत अनुदात्त और अवांछनीय व्यापार रहते हैं।

(4) **अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण कविता क्षुद्र-** कविता की उत्पत्ति अज्ञान से होती है, इसलिए कविता श्रेष्ठ नहीं क्षुद्र है।

श्रेष्ठ काव्य के गुण- प्लेटो ने काव्य के गुण सरलता, धार्मिक यानैतिक विषयों वाला, कल्पना विरोधी, अतिशय भावुकता विरोधी और शिव का समर्थक माना है।

प्लेटो कविता में शक्ति, ज्ञान और अध्यात्म का पक्षधर है। प्लेटो ने काव्य के तीन प्रयोजन-सत्य का उद्‌घाटन, मानव-कल्याण और राष्ट्रोत्थान माने हैं।

ड्राइडन की काव्य सम्बन्धी मान्यताएं निम्नलिखित हैं-

(1) **काव्य मानव प्रकृति का चित्र-** ड्राइडन काव्य को मानव प्रकृति का चित्र मानता है। प्लेटो इस दिखाई देने वाली दुनिया को सत्य का अनुकरण मानता था। ड्राइडन ने स्वीकार किया है कि कवि संसार को जैसा देखता है, वैसा ही चित्रित करता है।

(2) **काव्य मानव प्रकृति का मानस चित्र-** सिडनी के मतानुसार कवि दृष्टिगोचर होने वाले विश्व का नहीं, अपितु अपने मानस के आदर्श संसार की भावनाओं का अनुकरण करता है। इसी वितण्डावाद के कारण ड्राइडन ने अपने काव्य लक्षण में अनुकरण के स्थान पर मानस चित्र शब्द का प्रयोग किया।

(3) **कवितारूपी चित्र की यथार्थता-** ड्राइडन ने कहा है कि कवितारूपी चित्र यथार्थ होना चाहिए। यदि चित्र यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, तभी वह सत्य को प्रकट करेगा।

(4) **काव्यरूपी चित्र की प्राणवत्ता-** काव्य के रूप में मानव प्रकृति का यथार्थ चित्र सप्राण होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो वह काव्य नहीं है।

(5) **काव्य का प्रयोजन-** ड्राइडन के अनुसार मानव जाति को आन्द प्रदान करना और शिक्षा देना ही काव्य का लक्षण है। काव्य को इसे पूरा करना चाहिए।

प्रश्न #. कॉलरिज के कल्पना सिद्धान्त का परिचय दीजिए।

उत्तर- कॉलरिज यह स्वीकार करता है कि कल्पना निम्नलिखित दो प्रकार की होती है-

(क) **आद्य कल्पना-** इसे अंग्रेजी में 'प्राइमरी इमेजीनेशन' कहा जाता है। यह कल्पना जीवित और महत्त्वपूर्ण शक्ति है। इससे हमें मानवीय पदार्थों का बोध होता है। इन्द्रियों द्वारा जिन वस्तुओं का बोध होता है, उन्हें यह कल्पना ही व्यवस्थित करती है। यह कल्पना सहज और स्वाभाविक मानवीय गुण है।

(ख) **गौण कल्पना-** यह कल्पना विशेष लोगों में प्राप्त होती है। यह कल्पना प्रकृति के पदार्थों में प्राप्त होने वाले अव्यवस्थित स्वरूप को रूप देने वाली शक्ति है।

दोनों कल्पनाओं में अंतर- पहली अर्थात् आद्य कल्पना प्रकृति या पदार्थों में पाये जाने वाले अव्यवस्थित रूप को निश्चित आकार देती है। यह आन्तरिक शक्ति का अभिप्रेत अर्थात् चाहा हुआ है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की कल्पना को सभी चाहते हैं। दूसरी कल्पना संयुक्त और आत्मा की कल्पना है। यह आत्मा की ऊर्जा है।

कल्पना का महत्त्व- कॉलरिज ने कल्पना को काव्य या कविता का मूल आधार माना है। कलाकार या कवि प्रकृति का पुन: सृजन नहीं करता, अपितु उन्हें वह कल्पना के सहारे पुन: निर्माण की ओर बढ़ाता है।

मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार आलोचना

मैथ्यू आर्नोल्ड साहित्य को जीवन की आलोचना मानता है। उसके अनुसार साहित्य की समस्याएं मानव जीवन की समस्याओं से भिन्न नहीं होती हैं। वह साहित्य का मूल्यांकन जीवन के सन्दर्भ में ही करना चाहता है। मैथ्यू आर्नोल्ड आलोचक में निम्नलिखित तीन गुणों का होना आवश्यक मानते हैं-

(क) *आलोचक पढ़े, समझे और वस्तुओं का यथार्थ रूप देखें।*

(ख) *जो कुछ आलोचक ने सीखा है, उसे वह दूसरों को हस्तान्तरित करे। इस प्रकार अच्छी भावनाएं सभी जगह फैलती हैं।*

(ग) *आलोचक को रचनात्मक शक्ति के लिए वातावरण तैयार करना चाहिए।*

प्रकार्य- इसका तात्पर्य कारयित्री प्रतिभा से है। साहित्य में प्रतिभा दो प्रकार की होती है-कारयित्री और भावयित्री। इन दोनों का अन्तर यह है कि कारयित्री प्रतिभा का कार्य काव्य की रचना करना है और भावयित्री प्रतिभा का कार्य काव्य को समझाना है। इतिहास विज्ञान आदि में जो

वस्तु जैसे है, उसे उसी प्रकार देखना कारयित्री प्रतिभा का काम है। समीक्षा भी कारयित्री प्रतिभा है।

'संवेगों का संतुलन'

आई.ए. रिचर्डस ने संवेगों के संतुलन की बात कलाकार और कवि के समर्पण के प्रसंग में कही है। कवि और कलाकार द्वारा अपने संवेगों का संतुलन करना ही संवेगों का संतुलन है। इसको निर्वैयक्तिकता भी कहा जा सकता है। रिचर्डस ने कहा है कि समीक्षक के सामने मुख्य रूप से दो प्रश्न रहते हैं-कृति के द्वारा समर्पण किस कोटि का है तथा कलाकार जिसका समर्पण करना चाहता है, उसका मूल्य क्या है ? रिचर्डस की इस मान्यता पर प्रश्न किया गया है कि क्या कला को समर्पण मानना उचित है। रिचर्डस के अनुसार कलाएं (कविता भी) मनुष्य की समर्पणात्मक क्रिया का उत्कृष्ट रूप है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के कारण ही समर्पण करता है। रिचर्डस ने लिखा है कि कलाकार को (कवि को भी) समर्पक मानना सर्वाधिक कल्याणकर है। यह मानना सत्य नहीं है कि कलाकार भी सामान्यतया ऐसा ही मानते हैं। कलाकार और कवि जिस समय रचना करने में व्यस्त होते हैं, उस समय वह समर्पण के लिए सजग न होने के कारण आयासपूर्वक समर्पण नहीं करता, समर्पण उससे अपने आप हो जाता है।

विखण्डनवाद

हिन्दी में विखण्डनवाद का आगमन पाश्चात्य समीक्षा से हुआ है। पहले संरचनावाद और बाद में उत्तर-संरचनावाद आया। विखण्डनवाद उत्तर-संरचनावाद के बाद की स्थिति है। संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद का खण्डन करने के बाद इसका नाम विखण्डनवाद रखा गया। विखण्डनवाद को जन्म देने के लिए जाक देरिदा को उत्तरदायी माना जाता है। इन्होंने उत्तर-संरचनावाद का विरोध करके जिस विचारधारा की स्थापना की, उसे विखण्डनवाद कहा जाता है। विखण्डनवाद आलोचना नहीं है। देरिदा के अनुसार विखण्डन की क्रिया याद दिलाती है कि भाषा किस प्रकार दर्शन की योजना को जटिल बनाती अथवा बाहर फेंकती है। देरिदा रचना और समीक्षा में भी अंतर मानते हैं। देरिदा के लिए आलोचना, दर्शन, भाषा विज्ञान, नृविज्ञान आदि सभी सिद्धान्त विखण्डन की वस्तु हैं। देरिदाई शैली अर्थात् विखण्डनवाद का पहला उदाहरण पाल द माने के निबन्ध 'ब्लाइण्डनैस एण्ड इनसाइड' में देखा गया। देरिदा ने पश्चिमी सिद्धान्तों के विमर्श को अपराध बताया है जो भाषा का खेल नष्ट करता है। पश्चिमी विमर्श का रहस्यवाद भी छद्म अर्थात् बनावटी है। इसकी सीमाओं को समाप्त करके इस छद्म को तोड़ा जा सकता है।

उत्तर-आधुनिकतावाद

आधुनिक हिन्दी में जितने भी वाद आये हैं, सभी पश्चिम से आये हैं। यह बात अलग है कि उनका हिन्दी अनुवाद कर लिया गया है। उत्तर-आधुनिकतावाद अंग्रेजी के 'पोस्ट मार्डनिज्म' का हिन्दी अनुवाद है। उत्तर-आधुनिकतावाद का जन्म फ्रांस में हुआ। फ्रांसीसी विद्वान फ्रांस्ड आल्योतार ने विकसित समाजों में विज्ञान और तकनीकी की भूमिका और भाषा के विषय में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसका नाम 'द पोस्ट माडर्न कंडीशन ए रिपोर्ट ऑन नालिज' है। इसमें पहली बार 'पोस्ट माडर्न' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी का अनुवाद उत्तर-आधुनिकता है। यहीं से उत्तर-आधुनिकतावाद आरम्भ हुआ है। इस रिपोर्ट का अंग्रेजी अनुवाद सन् 1986 में प्रकाशित हुआ। डॉ. सत्यदेव पचौरी के अनुवाद 'उत्तर-आधुनिकता' पदबन्ध का वर्णन सन् 1967 में जान बार्थ ने किया है। तात्पर्य यह है कि इस शब्द का प्रयोग फ्रांसुआ से पहले हो चुका है। आधुनिकतावाद के पश्चात् आने वाले उत्तर-आधुनिकतावाद को न समझ पाने के लिए लोगों ने तरह-तरह की बातें की हैं। हिन्दी में इसका परिचय देने वाले सुधीश पचौरी को भी लोगों ने भला-बुरा कहा है।

महत्त्वपूर्ण अतिलघुउत्तरीय प्रश्न

प्रश्न अनुकरण सिद्धांत किसने प्रतिपादित किया।

उत्तर- प्लेटो ने।

प्रश्न प्लेटो के अनुसार श्रेष्ठ काव्य के कौन-कौन से गुण हैं?

उत्तर- 1. सरलता, 2. विषय, 3. कल्पना विरोधी, 4. अतिशय भावुकता विरोधी, 5. शक्ति ज्ञान और अभ्यास, 6. शिव का संपर्क।

प्रश्न अरस्तू के प्रमुख काव्य सिद्धांत क्या हैं?

उत्तर- अरस्तू के प्रमुख काव्य सिद्धांत निम्नलिखित हैं-1. काव्य एवं कला संबंधी विचार, 2. अनुकरण सिद्धांत, 3. विरेचन सिद्धांत, 4. त्रासदी विषयक सिद्धांत।

प्रश्न अरस्तू के अनुसार त्रासदी के भेदों के नाम लिखिए।

उत्तर- त्रासदी के अरस्तू ने चार भेद माने हैं-

(i) **जटिल त्रासदी-** जो पूर्णत: स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान पर निर्भर होती है।

(ii) **करुण त्रासदी-** जिसका प्रेरक हेतु आवेग होता है।

(iii) **नैतिक त्रासदी-** इसका प्रेरक हेतु नैतिकता है।

(iv) **सरल त्रासदी-** इसमें किसी प्रकार की जटिलता न होकर एकान्विति ही होती है और सहज होती है।

इसके अतिरिक्त शुद्ध दृश्यात्मक त्रासदी भी होती है, पर अरस्तू ने इसे मुख्य नहीं माना है।

प्रश्न लोजाइन्स की अवधारणा किस सिद्धांत से है?

उत्तर- उदात्त सिद्धांत।

प्रश्न लोजाइन्स ने उदात्तता के कौन से तत्व माने हैं?

उत्तर- उदात्तता के मूलाधार तत्व- लोजाइन्स ने उदात्तता के मूलाधार पांच तत्व माने हैं-1. उदात्त विचार, 2. भावों का उदात्त रूप में चित्रण, 3. समुचित अलंकार योजना, 4. उत्कृष्ट भाषा, 5. गरिमामय रचना विधान।

प्रश्न क्रोचे ने किस सिद्धांत को प्रतिपादित किया?

उत्तर- अभिव्यंजनावाद।

प्रश्न स्वच्छंदतावाद के विकास कारण बताइए।

उत्तर- 1. सामाजिक कारण, 2. राजनीतिक कारण, 3. दार्शनिक कारण, 4. साहित्यिक कारण।

प्रश्न कामदी की चर्चा किसने की है?

उत्तर- प्लेटो एवं अरस्तू ने कामदी की चर्चा की है।

प्रश्न यथार्थवादी आंदोलन कहां और कब हुआ?

उत्तर- यथार्थवादी आंदोलन यूनान में पांचवीं शताब्दी में हुआ।

प्रश्न रिचर्डस ने परंपरावादी अनुकरण के स्थान पर किसे महत्व दिया?

उत्तर- रिचर्डस ने परंपरावादी अनुकरण के स्थान पर कवि को महत्व दिया है।

प्रश्न कोलरिज ने काव्य साहित्य के कौनसे पक्षों पर विचार किया?

उत्तर- कोलरिज ने निम्नलिखित पक्षों पर विचार किया-1. कल्पना सिद्धांत, 2. कला संबंधी दृष्टिकोण, 3. काव्य-संबंधी धारणा, 4. काव्य-भाषा, 5. काव्य और गद्य, 6. काव्य-प्रतिभा, 7. नाटकीय भ्रांति, 8. छंद और काव्य।

प्रश्न मनोविश्लेषणवाद के जन्मदाता कौन हैं?

उत्तर- मनोविश्लेषण के जन्मदाता फ्रायड हैं।

प्रश्न प्लेटो के सिद्धांत का नाम क्या है?

उत्तर- प्लेटो के सिद्धांत का नाम अनुकृतिवाद है।

प्रश्न ड्राइडन के सिद्धांत का नाम लिखिए।

उत्तर- ड्राइडन के सिद्धांत का नाम अभिजात्यवाद है।

प्रश्न मार्क्सवाद किन सिद्धांतों पर आधारित है?

उत्तर- मार्क्सवाद दो सिद्धांतों पर आधारित है-1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, 2. ऐतिहासिक भौतिकवाद।

प्रश्न वड्र्सवर्थ और कोलरिज ने किस सिद्धांत को प्रतिपादित किया।

उत्तर- स्वच्छंदतावाद को।

प्रश्न टी.एस. इलियट के सिद्धांत का नाम क्या है?

उत्तर- निर्वैयक्तिवाद वाद।

प्रश्न आई.एस. रिचर्ड ने किस विषय पर ध्यान दिया?

उत्तर- संप्रेषण और मूल्य पर।

प्रश्न मनोविश्लेषण वाद के प्रवर्तक कौन हैं?

उत्तर- फ्रायड और एडलर।

प्रश्न स्वच्छंतावाद कब शुरू हुआ?

उत्तर- 9वीं शताब्दी से।

प्रश्न किस कृति के प्रकाशन से अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद ने जोर पकड़ा?

उत्तर- सन् 1989 लिरिकल बैलेंस के प्रकाशन से।

प्रश्न फ्रायड के अनुसार चेतना के कौन-कौन से स्तर हैं?

उत्तर- 1. इगो, 2. सुपर इगो, 3. इड।

प्रश्न फ्रायड के अनुसार कला की प्रेरणा कहां से प्राप्त होती है?

उत्तर- कला की प्रेरणा इगो से प्राप्त होती है।

प्रश्न मार्क्सवादी सिद्धांत में किस प्रणाली की भूमिका महत्वपूर्ण है?

उत्तर- समाजवादी भूमिका की।

प्रश्न मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक विकास का नाम बताइए।

उत्तर- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद।

प्रश्न यथार्थवाद के कितने रूप पाश्चात्य साहित्य में मिलते हैं?

उत्तर- तीन प्रमुख रूप हैं।

प्रश्न यथार्थवाद के प्रमुख उन्नायक कौन हैं?

उत्तर- मार्क्स, जोला।

प्रश्न अस्तित्ववाद के प्रारंभिक सूत्रधार कौन हैं?

उत्तर- दोस्तावस्की, कीके गार्द, वीत्से, यास्वर्न, मार्टिन हेडेगर, सार्त्र।

प्रश्न अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक कौन हैं?

उत्तर- ज्याँ पाल सार्त्र।

प्रश्न अस्तित्ववाद के उद्भव के कारण लिखिए।

उत्तर- वृद्धों से निराशा, वेदना, त्रास, कुंठा, क्षण भंगुरता आदि।

महत्त्वपूर्ण वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न यूरोप में स्वच्छन्दतावाद का विकास किस शताब्दी में हुआ?

(अ) पन्द्रहवीं शताब्दी में *(ब) सोलहवीं शताब्दी में*

(स) सत्रहवीं शताब्दी में *(द) अठारहवीं शताब्दी में* **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न स्वच्छन्दतावाद का उग्र रूप किसकी विचारधारा है?

(अ) कार्लाइल की *(ब) क्रोचे की*

(स) आस्कर वाइल्ड की *(द) फ्राइड की* **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न प्लेटो काव्य-प्रेरणा को सत्य से हीन होने के कारण समाज के लिए कैसा मानता है?

(अ) समाजोपयोगी *(ब) समाज के लिए अनुपयोगी*

(स) समाज के विरुद्ध *(द) समाज के प्रतिकूल* **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न प्लेटो किसका प्रबल समर्थक था?

(अ) काव्य सत्य का *(ब) नाटक का*

(स) प्राकृतिक सत्य का *(द) समाज का* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न प्लेटो के अनुसार मनुष्य के कितने धर्म होते हैं?

(अ) दो *(ब) तीन* *(स) चार* *(द) पाँच* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न प्लेटो के अनुसार देवों और दैत्यों की कहानियाँ कैसी होती हैं?

(अ) परिपक्व *(ब) अपरिपक्व* *(स) काल्पनिक* *(द) हानिकारक* **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न प्लेटो किसका पक्षधर था?

(अ) सुधारवाद का *(ब) यथार्थवाद का*

(स) आदर्शवाद का *(द) बिम्बवाद का* **उत्तर-** *(स)*

प्रश्न प्लेटो ने श्रेष्ठ काव्य के कितने गुण माने हैं?

(अ) चार *(ब) पाँच* *(स) छः* *(द) सात* **उत्तर-** *(स)*

प्रश्न काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू ने कितने सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है?

(अ) दो को *(ब) तीन को* *(स) चार को* *(द) पाँच को* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न अनुकरण के आधार पर प्लेटो ने कलाओं के कितने भेद किये हैं?

(अ) दो *(ब) तीन* *(स) चार* *(द) पाँच* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न अरस्तू ने अनुकरण शब्द का प्रयोग कितने शास्त्रों में किया है?

(अ) दो में (ब) तीन में (स) चार में (द) पाँच में उत्तर- *(ब)*

प्रश्न अरस्तू के अनुसार काव्य कितनी वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण कर सकता है?

(अ) दो में से (ब) तीन में से (स) चार में से (द) पाँच में से उत्तर- *(अ)*

प्रश्न अरस्तू ने त्रासदी के विषय में जो कहा है, उसके अनुसार त्रासदी के कितने अंग हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच उत्तर- *(द)*

प्रश्न अरस्तू ने त्रासदी को किसका भेद मानकर उसकी व्याख्या की है?

(अ) काव्य का (ब) नाटक का

(स) अभिनय का (द) इनमें से किसी का नहीं उत्तर- *(ब)*

प्रश्न लौंजाइनस ने उदात्तता के वे तत्त्व कितने माने हैं, जिनके आधार पर कवियों को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच उत्तर- *(अ)*

प्रश्न उदात्तता के बहिरंग तत्त्व लौंजाइनस ने कितने माने हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच उत्तर- *(स)*

प्रश्न लौंजाइनस ने उदात्ता का पोषण करने वाले कितने अलंकारों की घोषणा की है?

(अ) दस (ब) ग्यारह (स) बारह (द) तेरह उत्तर- *(स)*

प्रश्न लौंजाइनस ने आवेग के कितने रूप बताये हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच उत्तर- *(अ)*

प्रश्न लौंजाइनस ने सुखात्मक आवेग के अन्तर्गत कितने भाव माने हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच उत्तर- *(अ)*

प्रश्न लौंजाइनस के अनुसार दुःखात्मक आवेग के अन्तर्गत कितने आवेग होते हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच उत्तर- *(द)*

प्रश्न ड्राइडन ने काव्य की जो परिभाषा की है, उसमें कितनी बातें कही गयी हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच उत्तर- *(द)*

प्रश्न ड्राइडन के अनुसार काव्य कैसा चित्र है?

(अ) मानव प्रकृति का चित्र (ब) मानस चित्र

(स) प्रकृति का मानस चित्र (द) मानव प्रकृति का मानस चित्र उत्तर- *(द)*

प्रश्न ड्राइडन के अनुसार समीक्षक को कैसा होना चाहिए?

(अ) सौन्दर्य पारखी (ब) सौन्दर्य का निर्णायक

(स) सौन्दर्य उद्घाटनकर्ता (द) सौन्दर्य का विरोधी उत्तर- *(स)*

प्रश्न ड्राइडन ने किसकी बात उलटकर कही है?

(अ) अरस्तू की (ब) प्लेटो की

(स) सिडनी की (द) लौंजाइनस की उत्तर- *(स)*

प्रश्न ड्राइडन काव्य को किस प्रकार स्वीकार करता है?

(अ) ध्वन्यात्मक (ब) रसात्मक (स) अलंकारात्मक (द) छन्दात्मक उत्तर- *(अ)*

प्रश्न वर्डसवर्थ की गणना किस शताब्दी के समीक्षकों में की जाती है?

(अ) सत्रहवीं के *(ब) अठारहवीं के*

(स) उन्नीसवीं के *(द) बीसवीं के* **उत्तर-** *(स)*

प्रश्न विलियम वर्डसवर्थ काव्य की भाषा किस प्रकार की मानता है?

(अ) शिक्षितों की *(ब) धनिकों की*

(स) शासकों की *(द) जनसाधारण की* **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न विलियम वर्डसवर्थ के समय तक अंग्रेजी अध्ययन-अध्यापन को कितने वर्ष हो चुके थे?

(अ) 100 वर्ष (ब) 110 वर्ष (स) 120 वर्ष (द) 123 वर्ष **उत्तर-** *(स)*

प्रश्न विलियम वर्डसवर्थ का स्वर किसके प्रति विद्रोही है?

(अ) कला के *(ब) रीतिबद्धता के*

(स) आदर्शवाद के *(द) यथार्थवाद के* **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न वर्डसवर्थ की मान्यता के अनुसार निर्भीक और अलंकृत भाषा किन कवियों की होती थी?

(अ) जिनके भाव उदात्त होते थे *(ब) जिनके भाव धार्मिक होते थे*

(स) जिनके भाव आध्यात्मिक होते थे

(द) जिनके भाव सशक्त होते थे **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न वर्डसवर्थ ने किसके समान सामान्य लोगों की भाषा को सशक्त माना?

(अ) ड्राइडन (ब) सिसरो (स) इलियट (द) लौंजाइनस **उत्तर-** *(स)*

प्रश्न वर्डसवर्थ ने परम्परागत शैली को निम्नलिखित में से कैसा नहीं माना?

(अ) विकृत (ब) विरूपित (स) मिश्रित (द) भावपूर्ण **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न वर्डसवर्थ निम्नलिखित में से किसके प्रति अरुचि प्रकट नहीं करते थे?

(अ) मानवीकरण के *(ब) वक्रोक्ति के*

(स) उपमा के *(द) विपर्यय के* **उत्तर-** *(स)*

प्रश्न कॉलरिज ने वर्डसवर्थ की मान्यताओं पर कितने आक्षेप किये हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न कॉलरिज की मान्यता के अनुसार कल्पना की क्षमता कितनी होती है?

(अ) परिमित (ब) अपरिमित (स) सुखद (द) दुःखद **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न कॉलरिज के अनुसार साहित्यकार अपनी किस शक्ति के आधार पर सर्वजन मनोहारिणी रचनाएं प्रस्तुत करता है?

(अ) शब्दों के (ब) भाषा के (स) छन्दों के (द) कल्पना के **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न कॉलरिज के अनुसार प्राथमिक कल्पना कैसा सिद्धान्त है?

(अ) अव्यवस्थापित (ब) व्यवस्थापित (स) उपयोगी (द) अनुपयोगी **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न निम्नलिखित में से कॉलरिज के अनुसार प्राथमिक कल्पना का कौनसा नाम नहीं है?

(अ) कल्पना *(ब) इमेजीनेशन*

(स) जीवन्त शक्ति *(द) ललित कल्पना* **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न मैथ्यू आर्नोल्ड को क्या माना जाता है?

(अ) कलावाद का प्रवर्तक *(ब) स्वच्छन्दता का प्रवर्तक*

(स) गीतिकाव्य का प्रवर्तक *(द) अंग्रेजी आलोचना का प्रवर्तक* **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न मैथ्यू आर्नोल्ड ने अपना साहित्यिक जीवन किस रूप में प्रस्तुत किया?

(अ) कवि के रूप में *(ब) नाटककार के रूप में*

(स) प्रोफेसर के रूप में *(द) आलोचक के रूप में* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार आलोचक में कितने गुण होने चाहिए?

(अ) दो *(ब) तीन* *(स) चार* *(द) पाँच* **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार आलोचक का क्या कर्त्तव्य है?

(अ) भाषा की शिक्षा देना

(ब) रचना की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का निणय करना

(स) काव्य-दोषों का विरोध करना

(द) कवि के लिए भूमि तैयार करना **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार साहित्य में कितने प्रकार की प्रतिभा होती है?

(अ) दो प्रकार की *(ब) तीन प्रकार की*

(स) चार प्रकार की *(द) पाँच प्रकार की* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न इलियट ने अपने विषय में जो कहा, निम्नलिखित में उससे भिन्न कौनसा है?

(अ) मैं राजनीति में राजतन्त्रवादी हूँ *(ब) मैं धर्म में एंग्लो-कैथोलिक हूँ*

(स) मैं पेशे से व्यापारी हूँ *(द) मैं साहित्य में क्लासिकवादी हूँ* **उत्तर-** *(स)*

प्रश्न इलियट का सन् 1928 का वक्तव्य आने से पहले लोग उन्हें क्या समझ रहे थे?

(अ) परम्परावादी *(ब) फ्रांस के प्रतीकवादियों से प्रभावित*

(स) रहस्यवादी *(द) मर्यादावादी* **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न इलियट के अनुसार परम्परा कैसी वस्तु है?

(अ) व्यर्थ *(ब) प्रेरक*

(स) महत्त्वपूर्ण *(द) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण* **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न इलियट ने परम्परा को छोड़ना अपने आप को छोड़ने के समान अपने किस निबन्ध में लिखा है?

(अ) सीक्रेट इड *(ब) सीक्रेट वाटर*

(स) सीक्रेट फायर *(द) सीक्रेट एअर* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न इलियट ने परम्परा के ज्ञान से कितने लाभ बताये हैं?

(अ) दो *(ब) तीन* *(स) चार* *(द) पाँच* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न इलियट की प्रमुख मान्यताएं कितनी हैं?

(अ) दो *(ब) तीन* *(स) चार* *(द) पाँच* **उत्तर-** *(स)*

प्रश्न रिचर्डस ने सम्प्रेषण को क्या माना है?

(अ) महत्त्वपूर्ण *(ब) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण*

(स) महत्त्वहीन *(द) सर्वाधिक महत्त्वहीन* **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न रिचर्डस ने कविता के सम्प्रेषण का माध्यम किसे माना है?

(अ) कल्पना को *(ब) भाषा को*

(स) आलोचना को *(द) व्याख्या को* **उत्तर-** *(ब)*

प्रश्न रिचर्डस के अनुसार भाव के कितने अर्थ हैं?

(अ) दो *(ब) तीन* *(स) चार* *(द) पाँच* **उत्तर-** *(अ)*

प्रश्न भाषा के सम्बन्ध में रिचर्डस के विचार कैसे हैं?

(अ) उलझे हुए *(ब) प्राचीन* *(स) अनुपयोगी* *(द) मौलिक* **उत्तर-** *(द)*

प्रश्न रिचर्डस ने समीक्षा के आधार कितने माने हैं?

(अ) दो *(ब) तीन* *(स) चार* *(द) पाँच* **उत्तर-** *(अ)*